ब्यास की धरा

सुदर्शन वशिष्ठ

व्यास की धरा

प्यास
की

नीली व्यास
व
समाधिस्थ व्यास
को !

दो शब्द

संस्कृति की खोज पुस्तकालयों में बैठकर नहीं होती।

पन्द्रह किताबें खोलकर उनसे नए विषय का संधान, संस्कृति पर अनुसंधान नहीं है। संस्कृति पुस्तकालयों, पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं में नहीं, अपने मूल रूप में सजी-संवरी यह ग्रामों-बस्तियों में मिलती है।

जो व्यक्ति किसी स्थान विशेष से कोसों दूर रहे, उन्हें उन स्थानों पर विस्तृत शोध लिखते देखा है। एक बार एक शोधकर्ता से भेंट हुई। एक क्षेत्र के एक उत्सव पर उन्होंने पन्द्रह पृष्ठीय शोध-पत्र लिख डाला था जिसमें दस पृष्ठों से अधिक में उस स्थान, उस उत्सव के नामकरण की ही चर्चा थी—वैदिक, पौराणिक सन्दर्भों में। सभी ग्रन्थ खोज-खोजकर नामकरण से सन्दर्भ जोड़े थे। असली विषय तो मात्र एक-डेढ़ पृष्ठ तक ही सीमित था, वह भी किसी की छपी सामग्री या किसी सुने-सुनाए पर आधारित। बातचीत में ही ज्ञात हुआ कि वे इसी विषय पर पुस्तक लिखने की सोच रहे हैं और पुस्तक पूरी होने से पहले कम से कम एक बार उस क्षेत्र में जाने की चाह उनके मन में थी। इसी तरह लोग पूरे प्रदेश की (बस चले तो पूरे भारत की) संस्कृति को घर बैठे उद्घाटित करने की चाह लिए हुए हैं। यह पहली भ्रामक स्थिति है।

संस्कृति के अध्ययन में किसी शब्द विशेष को लेकर उसकी व्युत्पत्ति से अंदाजा लगाना भी प्रायः भ्रामक हो जाता है। पुराणों, उपनिषदों में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में (चाहे विपरीत अर्थ में ही सही) वह शब्द या उससे मिलता-जुलता शब्द मिलेगा ही। आखिर स्रोत तो वही है। इस प्रकार जबरदस्ती मेल मिलाने से खोज भ्रामक हो जाती है। फलतः व्युत्पत्ति व अटकलों की निरर्थक व्याख्या पांच पृष्ठों की हो जाती है और मूल विषय आधे पृष्ठ का। वास्तव में यही पुस्तकालयों की मेज पर बैठे अन्वेषकों का अन्वेषण है। यह दूसरी भ्रामक स्थिति है।

तीसरा भ्रामक विषय स्वयं शोध का हो गया है। क्या नकल मारना या चोरी करना ही शोध है? ऐसे शोध-कार्यों को देख आश्चर्य यह नहीं होता कि इतना लिखा कैसे होगा! आश्चर्य यही होता है कि इतनी नकल कहां से और कैसे मारी होगी! नकल इसलिए भी कि कई इसका उल्लेख तक नहीं करते कि यह उद्धरण अमुक स्थान से लिया गया है। जो जीवित है, जो वर्तमान है (और जो मिटने को आतुर है), वही संस्कृति है। संस्कृति वही है, जो जिंदा है। उसी के अनासक्त वर्णन का औचित्य है। वह क्यों है, किन

कारणों से रही होगी, इसकी अटकलें लगाने से प्रायः संस्कृति लेखक उलझ जाते हैं और मूल विषय पीछे छूट जाता है। वास्तव में जीवन्त वर्णन ही वास्तविक संस्कृति को सामने लाता है।

संस्कृति के शोध में 'आंखिन देखी' का ही महत्त्व है। पुस्तकों में पढ़ा तो दूर, कानों से सुना देने से भी अनेकों बार बिलकुल असत्य तथ्य सामने आ जाते हैं। उत्सवों में देखा है कि उसी उत्सव से जुड़े व्यक्ति कुछ और बताते हैं और देखने में कुछ और आता है। कुछ शोधकर्ता वर्षों पहले यह घोषणा कर देते हैं कि वे इस विषय पर पुस्तक लिख रहे हैं। इस बात को ध्यान में रखकर कि कहीं छपेगा, सूचना देने वाले बहुत-से तथ्यों को छिपा जाते हैं, या तोड़-मरोड़कर बताते हैं।

अब कुछ बाहर से पर्वतों की ओर आने वाले संस्कृति-प्रेमियों की बात। कुल्लू में रहने से और प्रदेश के भाषा-संस्कृति विभाग में सेवारत होने से देश के कुछ प्रतिष्ठानों से सम्बद्ध व्यक्तियों से वास्ता पड़ता रहा। ये लोग संस्कृति के संरक्षण के लिए प्रायः उतने ही चिंतित रहते हैं, जितने कि देवदार के जंगलों के प्रति। जिस तरह मैदानी पत्रकार वनों के कटाव की चिंता पहाड़ों में आकर करते हैं। वे यह नहीं जानते कि अमुक स्थान से पेड़ों के कटने, वहां और वृक्षारोपण न होने के पीछे क्या कारण रहा होगा! क्या परिस्थितियां रही होंगी! इसी तरह इन संस्कृति-प्रेमियों के मन में पहाड़ी व जनजातीय संस्कृति की एक सिनेमाई तसवीर रहती है— बीच में आग जली है। चारों ओर विचित्र आकृतियों वाले आदिवासी हू-हा कर नाच रहे हैं। यदि इन्हें आदमियों की तरह ढंग से नाचने वाले दिख जाएं तो ये उसे मूल संस्कृति का मानने को तैयार नहीं होते। इनके विचार से जो नर्तक स्कूल में पढ़ता है, वह आदिवासी या जनजाति या मूल संस्कृति का प्रतिनिधि नहीं रहा। कालेज में पढ़ने वाले को तो संस्कृति का प्रतीक मानते ही नहीं, जैसे इन सभ्यताओं के लिए स्कूल-कालेज में जाना गुनाह है। वास्तव में उनका यह तर्क स्टेज पर अध्यक्षीय ढंग से बोलने तक ही सीमित रहता है। प्रायः ये टूरिस्ट लाज, सर्किट हाउस तथा कारों के द्वारों पर ही संस्कृति के दर्शन करना चाहते हैं। और संस्कृति भी ऐसी कि एकदम पहाड़ की चोटी की। फिर वे इस पर लेख लिखते हैं। उनके इन लेखों में विदेशी लेखकों से भी कम पैठ होती है। विदेशी लेखकों की भाषागत सम्प्रेषण की कठिनाई के कारण उनका लेखन तथ्यों तक नहीं पहुंच पाया, न ही सूक्ष्म वर्णन हो सका, किन्तु उनकी स्पष्टवादिता व तथ्यात्मकता पर शक नहीं किया जा सकता।

संस्कृति की खोज में लोककथा, गाथा, लोकगीत एक सशक्त माध्यम है। यद्यपि अधिकतर लोक साहित्य, विशेषकर लोककथाएं परी-कथाओं की भांति स्वप्निल संसार की होती हैं। प्रायः इतिहास की दृष्टि से ये बहुत कम अंशों तक तथ्यों की पुष्टि करती हैं तथापि इन कथाओं से कई बार महत्त्वपूर्ण तन्तु जुड़ जाते हैं।

जिस प्रकार चन्द्रगुप्त के सोए होने पर शेर द्वारा उसके पांव को चाटने की

कथा है, उसी प्रकार कुल्लू के पालवंशीय शासकों के संस्थापक राजा विहंगमणीपाल के विषय में भी एक कथा है जिसमें एक ज्योतिषी सोए हुए निर्वासित राजकुमार के पांव में राजचक्र देखता है। बाद में जगतसुख में देवी हिडिम्बा के प्रसाद से उसे राजा घोषित किया जाता है। वैसे तो यह कथा उसी परी-कथा की तरह है जिसमें एक राजा के मर जाने पर यह निश्चित किया गया कि जो आदमी सबसे पहले नगर-द्वार में प्रवेश करेगा, वही राजा होगा। किन्तु विहंगमणीपाल के राजा घोषित होने के पीछे स्पिति के दमनकारी शासक की समाप्ति और नए युग के आरम्भ होने व पूरे संघर्ष और युग-परिवर्तन की कथा है।

प्रस्तुत पुस्तक के सभी लेखों में 'आंखिन देखी' है। कानों सुनी भी यदि है तो उसी स्थान में बैठकर सुनी है, जहां घटित हुई। कुल्लू जैसे भौगोलिक कटाव के क्षेत्र में कानों सुनी बहुत भ्रामक सिद्ध होती है। एक पहाड़ी का वासी दो किलोमीटर दूर उसी पहाड़ी के दूसरी ओर बसे गांव की संस्कृति के विषय में नहीं जानता। एक गांव के भूगोल-इतिहास के विषय में दूसरे गांव के लोगों को विशेष जानकारी नहीं है। यदि किसी जिज्ञासु को है भी तो अधूरी। कुछ ही किलोमीटर की दूरी के उत्सव, मेले के विषय में लोग स्वप्निल किस्से सुनाते हैं, जो प्राय: आधे गलत होते हैं। एक बार मुट्ठी में एक व्यक्ति ने मुझे दरपौइण-काहिका की बात इस रहस्यमय व सपनीले ढंग से सुनाई कि मैं बिलकुल नहीं जान पाया कि यह उसी उत्सव की बात है। मुट्ठी से दरपौइण का लम्बे रूट से सफर लगभग आठ किलोमीटर का है। जब एक दूसरे व्यक्ति ने, जिसने यह उत्सव देखा था, कुछ वर्णन किया तभी मैं जान पाया कि यह उसी उत्सव की चर्चा है। यह सब भौगोलिक कटाव और लोगों के अपने में ही रहने की प्रकृति के कारण है। यद्यपि कुछ देवता कुल्लू दशहरा के अलावा भी उत्सवों में इकट्ठा होते हैं, तथापि ये उत्सव अपने-अपने क्षेत्र या 'हार' तक ही सीमित रहते हैं। एक ही हार के देवता अपने मुख्य देवता के यहां उत्सवों में इकट्ठा होते हैं। इसके विपरीत हिमाचल के निचले भागों—कांगड़ा, हमीरपुर आदि में लोग पचास किलोमीटर तक का पता रखते हैं, क्योंकि सारा क्षेत्र सड़कों के जाल से जुड़ा हुआ है और इलाका इतना पहाड़ी भी नहीं है कि ऐसा लगे कि पृथ्वी यहीं समाप्त हुआ चाहती है।

एक ही विषय पर लिखे गए एक से अधिक लेखों में संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को उद्घाटित किया है। गौण रूप से अन्य पक्षों पर भी प्रकाश डाला है। जैसे 'फागली' के लेखों में मुखौटा-नृत्य, देवगाथा, गूर-खेल को अलग-अलग लिया है। साथ ही इनमें 'गूर' कैसे बने, इस पर भी चर्चा हुई है। इसी तरह 'काहिका' के लेखों में अलग-अलग प्रचलित रीतियों का उल्लेख है।

विपाशा की उपत्यकाओं की संस्कृति एक विशिष्ट संस्कृति है। इसे 'पिंडी संस्कृति' कहा जा सकता है। देवता के हर मन्दिर में 'पिंडी' का उल्लेख किया जाता है। यद्यपि ग्राम मन्दिरों में कोई मूर्ति नहीं है। मन्दिर में देवता के कुछ निशान—घण्टी, घड़छ, खण्डा आदि ही होते हैं। इन्हीं की देवता मान पूजा होती है। तथापि अधिकतर

मन्दिरों में 'पिंडी' का उल्लेख किया जाता है। आम बोली में 'पिंडी' का अर्थ शिव-लिंग से लिया जाता है। यह लिंग गोलाकार और सुघड़ भी हो सकता है, अनघड़ा कोई प्राकृतिक पत्थर भी। प्राय: इन मन्दिरों में अनघड़ पत्थरों को ही पिंडी माना जाता है। कई जगह तो पत्थर भी नहीं हैं, मात्र स्थान ही हैं। अब तो बहुत-से देवताओं के आकर्षक रथ बन गए हैं। मूल रूप में यहां मूर्ति-पूजा से हटकर महाशून्य में प्रकृति-पूजन किया जाता रहा है। घण्टी, घड़छ तो पूजा के साधन हैं, पूज्य नहीं। अब वे देवता के प्रतीक *बन गए हैं। किसी उत्सव या विवाह में देवता का एक निशान आ जाए तो भी देवता* आया हुआ समझा जाता है। वास्तव में जो पूजा जाता है, वह अदृश्य है। यह विचार हमें बहुत पीछे, खुले आसमान के नीचे प्रकृति-पूजन की ओर ले जाता है। गूर-खेल में अब भी गूरों द्वारा सर्वप्रथम चारों दिशाओं को नमन किया जाता है और शून्य में धूप दिया जाता है, ध्यान लगाया जाता है।

कुल्लू के देवताओं को अंग्रेज लेखकों ने 'डेमन गाड' कहा है। इस शब्द के प्रयोग के पीछे प्रदेश के अन्य भागों में प्रचलित 'खेल' का आधार है। इन स्थानों में कुछ लोगों को 'खेल' आती है। इस खेल में प्राय: शरीर में देवी का प्रवेश माना जाता है या दुष्टात्मा का। शरीर में घुसी दुष्टात्मा स्वयं बोल उठती है और अपने होने का आभास करवाती है। गुग्गे के स्थानों में स्त्री-पुरुषों के खेल के समय ऐसी दुष्टात्माएं बोलती हैं। उसी अर्थ में यहां के देवताओं को भी 'डेमन गाड' कहा है। तथापि ये देवता माने जाते हैं। जो पहले राक्षस रहे, उन्हें भी अब देवता ही माना जाता है। यहां देवता के गूर के उभरने की क्रिया व प्रक्रिया, देवी के आने या गुग्गे आदि के स्थानों पर खेलने वाले व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न है। यहां गूर एक आध्यात्मिक व पवित्र प्राणी है। वही देवता का एकमात्र प्रतिनिधि है जो प्रजा व देवता के बीच सम्पर्क साधता है। उसके बिना देवता गूंगा है।

हिमालय की तलहटी के इस भू-भाग में अनेकों आश्चर्यों से युक्त दिव्य भूमियां हैं। यद्यपि इस स्विट्जरलैण्ड सरीखी भूमि को उतनी प्रसिद्धि न मिली। गढ़वाल की ओर के उस भू-भाग की आध्यात्मिक दृष्टि से अब तक अधिक प्रसिद्धि रही। गंगा-यमुना के पौराणिक प्रभाव के कारण यह भाग अधिक लोकप्रिय बना। दोनों ही नदियों, और विशेषकर गंगा ने इस भू-भाग की संस्कृति को वैदिक-पौराणिक परिवेश से जोड़ा। यहीं गणेश-गुफा, नारद-गुफा आदि प्रसिद्ध हुई। जलप्लावन के बाद मनु का निवास भी यहीं माणा में माना गया। अंगिरा द्वारा अग्नि का अनुसंधान भी यहीं माना गया। किन्तु कुल्लू की इस देवभूमि में अनेकों ऋषि व पौराणिक पुरुषों के स्थान मिलते हैं—व्यास, वशिष्ठ, भृगु, नारद, कपिल, जमदग्नि, परशुराम, दुर्वासा आदि ऋषि, अनेकों नाग, सिद्ध, जोगणियों से भरपूर इस देवधरा में ही मनु का स्थान है। किरात वेशधारी शिव-पार्वती व किरात-अर्जुन युद्ध-स्थली भी यहीं है। वैदिक व्यास के उद्‌गम ने इसे वही परिवेश दिया है जो गंगा द्वारा उस ओर प्राप्त है। भौगोलिक कटाव व दुर्गम मार्गों के कारण यह भू-भाग बिलकुल अछूता रहा, यह और बात है।

प्रस्तुत पुस्तक में संग्रहीत समस्त लेख देश की विभिन्न शीर्षस्थ पत्र-पत्रिकाओं

में छप चुके हैं। कुल्लू की संस्कृति से सम्बद्ध धर्मयुग में छपे छः सचित्र लेखों के अलावा साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सरिता, संस्कृति, सोमसी, हिमप्रस्थ, मासिकी, हिमभारती, प्रकाशित मन, दैनिक ट्रिब्यून, गिरिराज, हिमालय टाइम्स आदि में ये लेख प्रकाशित हुए हैं। अधिकतर सचित्र लेख दैनिक ट्रिब्यून व गिरिराज में प्रकाशित हुए।

प्रायः सभी लेखों की उद्घोषणा सम्पादकों द्वारा पूर्व अंकों में 'विशिष्ट रचनाओं' में प्रथम स्थान पर की गई।

अधिकांश रचनाएं विशेषांकों में छपी हैं, जैसे धर्मयुग के 'फागुन अंक', 'अद्भुत आख्यान अंक', साप्ताहिक हिन्दुस्तान के 'होली विशेषांक', 'दशहरा विशेषांक', सरिता के 'पर्यटन विशेषांक', हिमालय टाइम्स के 'कुल्लू विशेषांक' आदि।

—सुदर्शन वशिष्ठ

अनुक्रमणिका

विपाशा के उद्गम से

मौन मनस्वी हिमालय। चिंतकों, विचारकों का आश्रयस्थल। महान् ऋषियों, योगियों ने मैदानों की नगरीय गहमागहमी से भाग जिसकी शीतल कंदराओं में परमार्थ चिंतन किया, वह हिमालय। साधकों, तपस्वियों, मनस्वियों की स्थली जिसने ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म की धाराएं प्रवाहित की हैं, जो मैदानों तक पहुंचते-पहुंचते दरिया हो गईं। ऐसी ही एक धारा फूटी है 3976 मीटर की ऊंचाई पर रोहतांग दर्रे से। कुल्लू और लाहौल-घाटी के बीच का सेतु है रोहतांग दर्रा जो मनाली से लगभग 15 कि० मी० की दूरी पर है।

रोहतांग, जहां पहुंचने पर हम अपने को सबसे ऊंचा पाते हैं, वास्तव में आसपास की चोटियों से अपेक्षाकृत नीचा है। तभी यह गम्य है। आसपास के पर्वतों से नीचा, फिर भी हमारे लिए सबसे ऊंचा। दोनों ओर ऊंचाई और बीच में छोटा-सा मैदान, जैसे पर्वतों ने स्वयं ही हटकर किसी ऋषि को रास्ता दे दिया है। मैदान के अंतिम छोर से दिखते हैं *लाहौल-स्पिति के बर्फीले पहाड़। आगे सीधी उतराई जहां नीचे चन्द्रा नदी कैलांग की* ओर बह रही है। रोहतांग पर आकर लगता है कि यहां प्राणी मात्र का संसार शेष हो गया है। परन्तु यह अंत नहीं है। इससे परे भी नदियों का देश है, चन्द्रा और भागा का देश, चन्द्रभागा का देश। दूसरी ओर मानसून नहीं पहुंचती, अत: रोहतांग से इस ओर नीचाइयों पर ऊंचे-ऊंचे पेड़ हैं, फल-फूल हैं। दूसरी ओर कोई पेड़-पौधा नहीं। बस, नंगे पहाड़ हैं जो सिर्फ बर्फ पहनते हैं। दर्रे पर कुल्लू की ओर ठीक उस जगह, जहां से उतराई आरम्भ होती है, व्यास कुण्ड है। यहीं से व्यास की एक नन्ही धारा प्रस्फुटित होती है जो आगे उछलती-कूदती हुई वयस्क होती जाती है।

व्यास का उद्गम ! एक नन्ही धारा। जैसे एक कोंपल फूटी। एक कली विकसी। एक अबोध शिशु ने आंखें बंद किये ही पहली किलकारी मारी।

यहां लगता है कि व्यास -- ऋषि और नदी, एक हो गये हैं। व्यास भी मैदानों में जाकर दरिया हो गये थे। व्यास विस्तार का नाम है। ऋषि और नदी, दोनों मूल से निकलने पर बूंद होते हैं जो फैलते-फैलते सागर हो जाते हैं। रोहतांग के दूसरी ओर सोलंग नाले के ऊपर व्यास ऋषि का आश्रम है जिसे 'व्यास रिखी' कहा जाता है। सोलंग नाला, जहां अब स्कीइंग आदि बर्फ के खेल होते हैं, व्यास से रोहतांग के आधार पर पलचांग में आकर मिलता है। कुछ लोग व्यास रिखी से आने वाले सोलंग नाले को

वास्तविक व्यास मानते हैं। परन्तु अधिक महत्ता रोहतांग के व्यास कुण्ड की ही है। यह भ्रान्ति व्यास ऋषि व नदी, दोनों के दरियाई व्यक्तित्व के कारण ही है। व्यास कहां से निकली, यह बुजुर्गों ने खोजा है, पता नहीं कब ! जहां वे भटकन के बाद सुगमता से पहुंच पाये वहीं। फिर भी अब तक कोई अन्य स्रोत नहीं खोज पाया। जैसे रोहतांग दर्रा खोजा है। कोई और सुगम मार्ग नहीं मिल पाया अतः आज तक यह स्वीकार्य है कि रोहतांग ही सर्वाधिक सुगम प्रवेश है लाहौल घाटी का।

रोहतांग पर ही एक ओर है शैला-सौर ! शैला-सौर अर्थात् शीतल सरोवर। इस सरोवर में श्रद्धालु बीस भादों को स्नान करते हैं।

व्यास की धारा के साथ नीचे उतरते हुए आता है मढ़ी। यहां अब लाहौल-घाटी की ओर जाने वाली बसें भोजनादि के लिए रुकती हैं। बसों के बन्द हो जाने पर पैदल यात्री यहीं आकर रात बिताते हैं। केलांग की ओर खोखसर से पैदल चले यात्री यहीं आकर रुकते हैं। इस ओर मनाली के बाद मढ़ी ही पड़ाव आता है। कहीं बीच में रुक जाएं तो वहीं बर्फ हो जाते हैं। खोखसर से चढ़ने वाले लोग मढ़ी तक रुक नहीं सकते। चलते ही रहना पड़ता है। रुकने का दूसरा नाम मौत है। दर्रे को निश्चित समय से पूर्व ही लांघा जा सकता है, नहीं तो तूफानी हवाएं जानलेवा हो जाती हैं। लगभग जून से नवम्बर तक बस सेवा के बाद अप्रैल से जून तक तथा अनुकूल मौसम के अनुसार दिसम्बर-जनवरी तक पैदल यात्री चलते रहते हैं। ये अधिकतर लाहौलवासी साहसी लोग होते हैं या कर्मचारी व मजदूर।

हिडिम्ब की चीत्कार

मढ़ी के सामने, आसपास पर्वतों पर हर ऋतु में बर्फ देखी जा सकती है। रोहतांग पर अगस्त तक बर्फ के ढेर जमे रहते हैं। गर्मियों में चम्बा-लाहौल की ओर से आने वाले गद्दी अपनी भेड़-बकरियां चराते चलते रहते हैं। सितम्बर में मढ़ी के नीचे देवदारुओं के बीच की धरती रंग-बिरंगे फूलों से सज जाती है। अक्तूबर तक आरंभ होने वाली पतझड़ पर रंग बदलते पत्ते और ही दृश्य उत्पन्न कर देते हैं।

मढ़ी के सामने ही है एक भयंकर नाला, जिसमें गम्भीर ध्वनि से बर्फानी पानी गिरता है। इसे 'सागू-छो' या सागू नाला कहते हैं। सागू एक राक्षस का नाम है। यह भी जनास्था है कि भीम ने हिडिम्ब को मनाली से उठाकर यहां ला पटका जहां नाले में उसकी मृत्यु हो गई। आज भी राक्षस की अन्तिम चीत्कार गहरे नाले से सुनाई पड़ती है। लोकास्था में घटोत्कच का एक भाई तांदी भी था। तांदी केलांग से पीछे चन्द्रा व भागा के संगम-स्थल का नाम है। भीम हिडिम्बा की विहारस्थली।

हिडिम्ब मारा गया। भीम ने हिडिम्बा को अंगीकार किया। महाभारत का वह महत्त्वपूर्ण प्रसंग ! राजपुरुष का नरभक्षी राक्षस जाति से पाणिग्रहण। प्रेमी भीम को लेकर हिडिम्बा सुरम्य पर्वतों, मनोहर सरोवरों, गुफाओं में विहार करती है। दोनों के प्रेम का अंकुर घटोत्कच के रूप में फूटता है। घटोत्कच, अपने मामा हिडिम्ब के विपरीत

सात्विक वृत्ति का है। वह द्रौपदी सहित पाण्डवों व ब्राह्मणों को पीठ पर उठा बदरिकाश्रम ले जाते समय कैलाश की ओर ले उड़ता है। रथयूथपतियों का अधिपति वीर घटोत्कच जिसके पास रीछ के चमड़े से मढ़ा विशाल रथ था, पाण्डवों की ओर से लड़ता हुआ महारथी कर्ण के प्राण संकट में डाल देता है। कुल्लू के लोकमानस में वीर घटोत्कच का नाम बड़े गर्व से लिया जाता है।

मनाली में ढूंगरी नामक स्थान पर ही हिडिम्बा का मंदिर है। महाभारत के समय की राक्षसी जिसे पाण्डवों ने मनुष्यों में स्थान दिया, यहां देवी के रूप में पूजी जाती है। पैगोडा-शैली के मन्दिर के दरवाजे पर की गई नक्काशी काष्ठ कला का बेहतर नमूना है। द्वार पर दुर्गा, शिव, विष्णु, साधक आदि के चित्र खुदे हैं। टांकरी में एक लेख है। मन्दिर सोलहवीं शताब्दी के मध्य राज बहादुर सिंह (1546-1569) ने बनवाया। कुल्लू के पालवंशीय राजा हिडिम्बा को अपनी दादी कहते हैं क्योंकि देवी के प्रसाद से ही उन्हें कुल्लू का राज्य मिला है।

मन्दिर के भीतर एक बड़ा पत्थर है। इसके पास ही एक छोटी चट्टान के नीचे देवी के चरण हैं। पुजारी का विश्वास है कि देवी इसी चट्टान के नीचे रहती थी। यद्यपि बड़े पत्थर के पास एक मूर्ति भी रखी है किन्तु पूजने वाले पांव ही पूजते हैं। पांव ही तो पूजनीय होते हैं। पूजने हैं तो पांव ही पूजिये।

आसपास घना जंगल है। यद्यपि भीम का हिडिम्बा से साक्षात्कार का स्थान महाभारत के वर्णन के अनुसार मनाली प्रतीत नहीं होता, तथापि यह स्पष्ट है कि भीम और हिडिम्बा विहार के लिए ऐसे ही मनोहारी स्थानों में आये होंगे। बंजार का एक देवता हिडिम्बा का पुत्र माना जाता है।

मनु का नौकायन : ऊंचाई की खोज

ढूंगरी के ऊपर मनालसू नाले के पार है मनाली गांव। यहीं पर मनु महाराज का मन्दिर है। जल-प्लावन के बढ़े हुए पानी में लड़खड़ाती हुई मनु की नौका जहां टकराई, वह मनाली है। एक पल आंखें मूंद सोचता हूं, सारी सृष्टि जलमय हो गई है। पानी ऊपर चढ़ रहा है। व्यास की धरती में चढ़ता हुआ पानी यदि कहीं ठहरेगा, तो वह स्थान मनाली गांव ही होगा।

सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु, सातवें मनवन्तर में सप्तऋषियों के साथ बैठे ऊपर चढ़ रहे हैं। नौका सींग वाले मत्स्य के साथ बंधी है। अन्न, औषधियों, बीजों का संग्रह सम्भाले वे ऊंचाई की खोज में यहां किनारे आ लगे।

वशिष्ठ, भृगु

व्यास के उस पार, मनु के मन्दिर के ठीक सामने है वशिष्ठ आश्रम। जैसे अभी-अभी पाशमुक्त हो वशिष्ठ समाधिस्थ हुए हों। लकड़ी के बने मन्दिर के भीतर महर्षि की काले रंग की विशाल मूर्ति है। साथ ही है गर्म जलस्रोत। इसी गर्म जल को कुछ

नीचे ले जाकर हिमाचल पर्यटन विकास निगम ने स्नानागृह बनाये हैं। वशिष्ठ मन्दिर के साथ श्रीराम मन्दिर भी है।

वशिष्ठ आश्रम के ऊपर चोटी पर है भृगु तुंग। वशिष्ठ के ऊपर जाते में इस ओर के पशु बरसात में चराने के लिए छोड़े जाते हैं। पशु व घोड़े आदि इस मौसम में खूब तगड़े हो जाते हैं। इन चरागाहों से आगे ही है भृगु तुंग। इस स्थान पर एक सुन्दर जलाशय है। श्रद्धालु यहां बीस भादों को स्नान करने जाते हैं।

मनाली का बायां किनारा आरम्भ होते ही बौद्ध संस्कृति के भी दर्शन होने लगते हैं। व्यास के पत्थरों पर, पर्वतों की चट्टानों पर बौद्ध मन्त्र खुदे हैं। मनाली में अब एक बौद्ध मन्दिर भी बन गया है।

जगतसुख

व्यास के बाईं ओर ही नीचे लगभग पांच किलोमीटर की दूरी पर आता है जगत-सुख। जगतसुख कुल्लू के राजाओं की प्रारम्भिक राजधानी रहा। यहीं पर मायापुरी के निर्वासित राजकुमार विहंगमणीपाल को जयधार में राजा घोषित करवाया गया था। यहीं एक बुढ़िया को राजकुमार ने पीठ पर उठा घुआंगणु नाला पार करवाया था। वह बुढ़िया और कोई नहीं, देवी हिडिम्बा ही थी जिसने राजकुमार को इसके बदले ऊंचे पत्थर पर खड़ा कर दूर दृष्टि की सीमा तक का राज्य आशीष में दिया। राजकुमार ने कुल्लू को स्पिति के अत्याचारी शासकों तथा आपस में झगड़ते छोटे-छोटे राणाओं के चंगुल से मुक्त कराया।

जगतसुख में सन्ध्या देवी का काष्ठ मन्दिर है और साथ में ही है शिखर शैली का एक छोटा-सा शिव मन्दिर जो नवीं या दसवीं शताब्दी का है।

हामटा : इन्द्रकील

जगतसुख से ऊपर है हामटा। यहां भी एक झील है। महर्षि जमदग्नि किन्नर कैलाश की यात्रा के बाद यहीं आकर रुके थे। वे एक टोकरी में देवताओं की प्रतिमाएं उठाये हुए थे। यहीं से वे मलाणा गये। चन्द्रखणी पर्वत पर आंधी आई और ऋषि के सिर से देवताओं की टोकरी गिर गई जिससे देवता विभिन्न स्थानों में जा गिरे और प्रतिष्ठित हुए।

इन्द्रकील, कुल्लू और स्पिति के बीच का पर्वत है, जिसे 'देउ टिब्बा' भी कहते हैं। इस पर्वत के विषय में भी अनेकों विश्वास प्रचलित हैं। कहा जाता है कि जितना इसके समीप जाने का प्रयत्न करो उतना ही यह दूर होता जाता है। कोई आज तक इस पर्वत तक पहुंच नहीं पाया। हामटा के पास ही है अर्जुन गुफा। इन्द्रकील और अर्जुन गुफा पुनः भीम के अनुज समर्थ अर्जुन का स्मरण दिलाते हैं। शंकर से पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के उद्देश्य से अर्जुन जब इन्द्रकील की ओर प्रस्थान करते हैं तब उन्हें एक आवाज सुनाई देती है : "खड़े हो जाओ!" इधर-उधर देखने पर उन्हें पता चलता है कि एक वृक्ष के

नीचे कोई तपस्वी बैठा हुआ है। वे उसके आदेश पर रुक जाते हैं। तपस्वी कहता है : "तुम धनुष-बाण, कवच और तलवार धारण किये हुए कौन हो? यहां आने का क्या प्रयोजन है? यहां शस्त्रों का कुछ काम नहीं। यहां शान्त स्वभाव तपस्वी रहते हैं। युद्ध होता नहीं, इसलिए तुम अपना धनुष फेंक दो।"

तपस्वी भेषधारी इन्द्र से भेंट के बाद हुआ अर्जुन-किरात समागम। अर्जुन-किरात युद्ध! युद्ध में शिथिल होकर जब उनके समस्त शस्त्र निरर्थक हो गये, बाहुबल जवाब दे गया, शिव-आराधना पर पाया कि किरात ही शिव हैं। आज भी यहां पार्वती शबरी के रूप में मन्दिर में प्रतिष्ठित हैं।

नग्गर

जगतसुख के बाद आता है नग्गर! यह भी कुल्लू के राजाओं की राजधानी वर्षों तक रहा। यहीं पर गुफा में रहता था वैष्णव बाबा किशनदास पौहारी जिसने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य राजा जगतसिंह तथा सम्पूर्ण प्रजा को वैष्णव बना दिया। अवध से रघुनाथजी की मूर्ति लाई गई और सारा राज्य रघुनाथजी को सौंप राजा छड़ीबरदार (मुख्य सेवक) हुआ।

यहां ऊपर ठाह्वा में मुरली मनोहर का मन्दिर है और नीचे हैं शिव, गौरी-शंकर, त्रिपुरा सुन्दरी आदि के कई मंदिर।

नग्गर का पुराना किला अब पर्यटन विकास निगम का आवासगृह है। किले के भीतर लिखा है कि यह राजा सिद्धसिंह (1500-1546) ने बनवाया। भीतर एक छोटा-सा मन्दिर है जिसमें मूर्ति के स्थान पर एक बड़ा चपटा पत्थर है। किंवदन्ती है कि यह बड़ा पत्थर जिसे 'जगती पौट' कहा जाता है, मनाली के पास नेहरू कुण्ड से लाया गया और लाया भी मधुमक्खी रूपधारी देवताओं ने।

रोरिक आर्ट गैलरी

किले से कुछ दूर है 'रोरिक आर्ट गैलरी'। किले व गैलरी के प्रांगण से ऊपर रोहतांग के पर्वत तथा नीचे मण्डी तक की पहाड़ियां नजर आती हैं। बीच में व्यास, आसपास ऊंचे-नीचे पहाड़ों की शृंखलाएं। संध्या के समय सूर्य के उतरने पर ऐसा दृश्य उपस्थित हो जाता है जो सांस खींच लेता है। ऐसे ही चिताहारी दृश्य हैं गैलरी के भीतर टंगे चित्रों में। चित्रों में चमकते रंग धूप व चांदनी का सजीव दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

टूटा तारा, दूर देश का आगत, कल्कि अवतार, दाता बुद्ध, त्रिरत्न आदि प्रसिद्ध चित्रों के निर्माता महान् चित्रकार, खोजी, पुरातत्त्ववेत्ता, वैज्ञानिक, कवि, लेखक, दार्शनिक, शिक्षाविद् निकोलस के। रोरिक 9 अक्तूबर, 1874 को रूस के सेंट पीटर्सबर्ग में जन्मे और 13 दिसम्बर, 1947 को कुल्लू के नगर में समाधिस्थ हुए। कहां रूस! कहां कुल्लू! वादी के अदृश्य तन्तुओं ने किस प्रकार उन्हें खींचा, आश्चर्यजनक है। वे हिमालय में इन्स्टीच्यूट स्थापित करना चाहते थे। इस उद्देश्य से 1928 में उन्होंने

मण्डी के राजा से हाल-एस्टेट नगर खरीदा। सात हजार से अधिक चित्रों के निर्माता रोरिक गोबी रेगिस्तान, चीन, तिब्बत तथा मध्य एशिया के बीहड़ों में भटकने के बाद हिमालय के इस कोने में शांति पा सके।

सदा ही चिंतन-मनन में लीन शान्त शैल, गगन की ओर उठे हुए वृद्ध देवदारू। बीच में गुनगुनाती व्यास जिसने उद्विग्न वशिष्ठ को पाशमुक्त किया, वह अर्जिकीया आदि धारा है, जिसका गायन वेदों ने किया।

मणियों की घाटी : पार्वती घाटी

पर्वतपुत्री पार्वती जहां नदी होकर बहती है, वह घाटी कुल्लू में पार्वती घाटी कहलाती है। पार्वती शमशी के पास व्यास में मिलती है। अनेकों बार पार्वती का पानी व्यास के पानी से अधिक होता है और लगता है व्यास पार्वती में समा गई है। व्यास सीधी बह रही है, पार्वती एक ओर से उछलती-कूदती आकर इसमें मिलती है, इसीलिये व्यास में पार्वती मिली, ऐसा ही समझा जाता है, यद्यपि पार्वती का मटमैला पानी व्यास के नीले पानी पर पूरी तरह हावी हो जाता है।

मणीकर्ण

पार्वती के बर्फानी पानी में एक ऐसा स्थल है जहां एक ओर बर्फ का पानी बह रहा है तो किनारे पर धरती से उबलता पानी फूट रहा है। एक ओर पानी में बर्फ-सी छुअन। दूसरी ओर उंगली लगे तो जलकर खाल उतर जाये। ऐसा अद्‌भुत स्थल है मणीकर्ण। आसपास ऊंचे पर्वत, बीच में पार्वती। इसी स्थल पर पार्वती दो बड़ी चट्टानों के बीच संकरे मार्ग से वेग से प्रस्फुटित होती है।

मणीकर्ण में रघुनाथ मंदिर के पुजारियों के पास उपलब्ध एक प्राचीन पाण्डुलिपि में इस स्थल के माहात्म्य का वर्णन है। इस स्तुति में कुल्लू को 'कुलान्त पीठ' के नाम से संबोधित किया गया है। जालन्धर पीठ की भांति कुलान्त पीठ और चौहार पीठ का स्मरण हुआ है। पुजारियों के अनुसार वास्तविक पाण्डुलिपि खो गई। उपलब्ध पाण्डु-लिपि को संशोधित करवाकर गुरुद्वारे के बाबा हरि नारायणजी ने छपवाया था, जो अब अनुपलब्ध हो गई है।

पुरातन काल से यह तीर्थ तपस्वियों, साधु-महात्माओं व श्रद्धालु धर्म-यात्रियों के लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है। यह स्थान कुल्लू से लगभग नौ किलोमीटर पीछे भुन्तर से पैंतीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। आज तो यहां तक कुल्लू से सीधी बस सेवा उपलब्ध है किन्तु पुराने समय में लोग कई दिनों का सफर तय कर दूर-दूर से इस घाट पर दुर्गम मार्गों से होते हुए आते थे। हिमाचल में मणीकर्ण और मनीमहेश, ये दो यात्राएं

मण्डी के राजा से हाल-एस्टेट नग्गर खरीदा। सात हजार से अधिक चित्रों के निर्माता रोरिक गोबी रेगिस्तान, चीन, तिब्बत तथा मध्य एशिया के बीहड़ों में भटकने के बाद हिमालय के इस कोने में शांति पा सके।

सदा ही चिंतन-मनन में लीन शान्त शैल, गगन की ओर उठे हुए वृद्ध देवदारू। बीच में गुनगुनाती व्यास जिसने उद्विग्न वशिष्ठ को पाशमुक्त किया, वह अर्जिकीया आदि धारा है, जिसका गायन वेदों ने किया।

मणियों की घाटी : पार्वती घाटी

पर्वतपुत्री पार्वती जहां नदी होकर बहती है, वह घाटी कुल्लू में पार्वती घाटी कहलाती है। पार्वती शमशी के पास व्यास में मिलती है। अनेकों बार पार्वती का पानी व्यास के पानी से अधिक होता है और लगता है व्यास पार्वती में समा गई है। व्यास सीधी बह रही है, पार्वती एक ओर से उछलती-कूदती आकर इसमें मिलती है, इसीलिये व्यास में पार्वती मिली, ऐसा ही समझा जाता है, यद्यपि पार्वती का मटमैला पानी व्यास के नीले पानी पर पूरी तरह हावी हो जाता है।

मणीकर्ण

पार्वती के बर्फानी पानी में एक ऐसा स्थल है जहां एक ओर बर्फ का पानी बह रहा है तो किनारे पर धरती से उबलता पानी फूट रहा है। एक ओर पानी में बर्फ-सी छुअन। दूसरी ओर उंगली लगे तो जलकर खाल उतर जाये। ऐसा अद्‌भुत स्थल है मणीकर्ण। आसपास ऊंचे पर्वत, बीच में पार्वती। इसी स्थल पर पार्वती दो बड़ी चट्टानों के बीच संकरे मार्ग से वेग से प्रस्फुटित होती है।

मणीकर्ण में रघुनाथ मंदिर के पुजारियों के पास उपलब्ध एक प्राचीन पाण्डुलिपि में इस स्थल के माहात्म्य का वर्णन है। इस स्तुति में कुल्लू को 'कुलान्त पीठ' के नाम से संबोधित किया गया है। जालन्धर पीठ की भांति कुलान्त पीठ और चौहार पीठ का स्मरण हुआ है। पुजारियों के अनुसार वास्तविक पाण्डुलिपि खो गई। उपलब्ध पाण्डु-लिपि को संशोधित करवाकर गुरुद्वारे के बाबा हरि नारायणजी ने छपवाया था, जो अब अनुपलब्ध हो गई है।

पुरातन काल से यह तीर्थ तपस्वियों, साधु-महात्माओं व श्रद्धालु धर्म-यात्रियों के लिये आकर्षण का केन्द्र रहा है। यह स्थान कुल्लू से लगभग नौ किलोमीटर पीछे मुन्तर से पैंतीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। आज तो यहां तक कुल्लू से सीधी बस सेवा उपलब्ध है किन्तु पुराने समय में लोग कई दिनों का सफर तय कर दूर-दूर से इस घाट पर दुर्गम मार्गों से होते हुए आते थे। हिमाचल में मणीकर्ण और मनीमहेश, ये दो यात्राएं साधुओं की जुबान पर रहती थीं।

कहानी सोने-चांदी की

जे० कैलवर्ट ने मणीकर्ण को 'होली-सिटी' कहा है और वर्णन किया है इस घाटी

में विद्यमान चांदी की खानों का। इस घाटी में मणीकर्ण से आगे उचच नामक स्थान में एक चांदी की गुफानुमा खान है। कैलवर्ट ने इस खान के उत्पादन का 1863 में लाहौर संग्रहालय में प्रदर्शन का उल्लेख किया है।

इस खान से चांदी निकाली जाती थी— यह लोकास्था भी है। ऐसा कहा जाता है चांदी बनाने का फार्मूला जरी के पास बगियांदा के कायस्थों के पास था। वही चांदी बनाया करते थे। किंवदन्ती है कि एक बार राजा के मन में आया कि क्यों न वह कायस्थ परिवार से चांदी बनाने का फार्मूला हथिया ले और स्वयं ही चांदी बनवाये। इस उद्देश्य से उसने कायस्थ बुजुर्गों को तंग किया। क्रोध में आकर बुजुर्गों ने फार्मूला ही जला दिया।

कहा जाता है रघुनाथ मंदिर में एक चांदी की चादर चढ़ाई गई थी। मंदिर के प्रांगण में पत्थरों पर भी चांदी चढ़ी थी। एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि में उल्लेख है कि राजा प्रीतमसिंह (1767-1806) ने अपने राज्य में चांदी के सिक्के चलाये। जब कोष में चांदी समाप्त हो गई तो मंदिर की चादर लेकर सिक्के बनाये गये। वास्तव में जिस व्यक्ति के पास ये सिक्के जाते थे, वह इन्हें वापस नहीं करता था। ऐसा कहा जाता है बंजार में चैहणी के एक सुनार के पास ये सिक्के उपलब्ध थे। चांदी बनाने वाले इस कायस्थ परिवार के वंशज अब भी भुन्तर में विद्यमान हैं।

फार्मूला नष्ट हो जाने के बाद भी चांदी बनाने का प्रयास हुआ। यह चांदी अब सोने से भी महंगी पड़ने लगी। दूसरे, यह ठीक नहीं उतरी। कहा जाता है कि चादर बनाती बार यह बिखर-बिखर जाती थी।

चांदी का मोह और कैलवर्ट की कब्र

जे० कैलवर्ट ने अपनी पुस्तक 'द सिलवर कण्ट्री' में इस घाटी में अनेक चांदी की खानों का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकतर सिक्खों के आक्रमण के समय बंद करवा दी गई थीं। कैलवर्ट ने शमशी के पास दरिया के पानी से सोना एकत्रित करने के धंधे का भी जिक्र किया है। कैलवर्ट ने इस सोने को पन्द्रह रुपये प्रति तोला बेचे जाने का उल्लेख किया है जो उसके अनुसार महंगा था।

बजौरा से आगे कैलवर्ट की कब्र है। कैलवर्ट के विषय में लोगों में यह धारणा है कि उसने चांदी बनाने का बहुत प्रयास किया। चांदी सोने से भी महंगी पड़ी और इसी प्रयत्न में वह अपनी सारी पूंजी लुटा बैठा।

इस बात की पुष्टि कैलवर्ट की पुस्तक से नहीं होती। चांदी बनाने या पूंजी लुटाने का कहीं पुस्तक में उल्लेख नहीं है। केवल सोने, चांदी व अन्य धातुओं की खानों के अन्वेषण का उल्लेख है। अलबत्ता उसे हामटा में दुर्लभ मणियां मिलीं। खनिज पदार्थों के अन्वेषण से सम्बद्ध होने के कारण सम्भवतः लोगों में यह भ्रान्ति जागी हो कि वह यहां चांदी बनाने के चक्कर में ही आया होगा।

शैव-वैष्णव संगम

सदियों पहले इस स्थल पर शैव-वैष्णवों का संगम हुआ।

कैलाशवासी शंकर की पार्वती की मणि खो जाने और पुनः मिलने के कारण इस स्थान को मणीकर्ण नाम मिला। शिव-पार्वती एक बार घूमते-घूमते किन्नर कैलाश से यहां आ निकले। स्थान रमणीक था, अतः रुक गये। देवी पार्वती के कान की मणि खो गई। उन्होंने भोले शंकर से मणि खोजने का अनुरोध किया। बहुत खोजने पर भी मणि जब न मिली तो शंकर कुपित हो उठे। उनकी कुपित दृष्टि ने पाताल तक मार की। फलस्वरूप मणियां ही मणियां निकलने लगीं। इस कथा के शेषनाग द्वारा मणि चुराने आदि से सम्बन्धित दो-तीन रूपांतर प्रचलित हैं परन्तु कथा मुख्यतः शिव-पार्वती से ही जुड़ी हुई है।

मणीकर्ण से आगे खीर गंगा है, जहां से किन्नर कैलाश को रास्ता जाता है। कुछ उत्साही धर्मयात्री व पर्वतारोही इस मार्ग से मानतलाई तक जाते हैं जहां एक रमणीक सरोवर है।

वर्तमान

इस समय मणीकर्ण में एक छोटा-सा शिव मंदिर है। इसी के पास यात्री उबलते पानी में चावलों की पोटली बांध छोड़ देते हैं जो पन्द्रह मिनट बाद पक जाते हैं। रोटियां फेंकी जाती हैं, जो पककर ऊपर तैर आती हैं। दाल-सब्जियां पक जाती हैं।

ऊपर रघुनाथजी का मंदिर है। नीचे पुराना मंदिर धंस गया है और इसकी मूर्तियां भी ऊपर के मंदिर में रख दी गई हैं। यह मंदिर एक शताब्दी पूर्व भी धंसा हुआ था। इसकी पुष्टि जे०कैलवर्ट के कथन से होती है। रघुनाथ मंदिर के नीचे छोटे-से मैदान में एक रथ खड़ा रहता है। ठीक वैसा ही रथ जैसा ढालपुर मैदान, कुल्लू में खड़ा रहता है और जिसका प्रयोग कुल्लू दशहरा में रथ-यात्रा के समय होता है। मणीकर्ण में भी कुल्लू की भांति दशहरा मनाया जाता है और रथ-यात्रा होती है।

ऐसा भी विश्वास है कि कुल्लू में स्थित रघुनाथजी की मूर्ति पहले यहीं प्रतिष्ठित थी। राजा जब सुलतानपुर चले गये तो उन्होंने मूर्ति को कुल्लू मंगवा लिया क्योंकि कुल्लू से यहां आकर पूजा-अर्जना करने में कठिनाई होती थी।

यदि यह मंदिर उसी मूर्ति से सम्बद्ध रहा हो तो यहां वैष्णव-प्रभाव राजा जगत-सिंह के समय सोलहवीं शताब्दी में ही आया। उससे पहले यह स्थान पूर्णतया शिव-पार्वती का था, यह निश्चित है। मणीकर्ण के पास टिपरी के ब्राह्मण की कथा है जिसमें कुल्लू में रघुनाथ मूर्ति आने की चर्चा है। इस कथा में भी राजा मणीकर्ण की ओर जा रहा था, जब उसने ब्राह्मण से मोती लेने चाहे थे। मणीकर्ण से राजा की वापसी पर ब्राह्मण के जिंदा जल जाने का हादसा हो गया, अतः नाथ सम्प्रदाय के पतन और वैष्णव के प्रभाव से ही यहां भव्य मंदिर बने, यह सम्भावित है।

मणीकर्ण माहात्म्य में मणीकर्ण की कथा का इस प्रकार से वर्णन है– हिमालय के चरणों में हरिन्द्र पर्वत के पास आश्रम में गरम और शीतल जल के सरोवर हैं। पार्वती के क्रीडास्थल में उनके कान की मणि खो गई। पार्वती की उस खोई हुई मणि को खोजने के लिए शंकर ने अपने गणों और भूतों को आज्ञा दी। बहुत खोजने पर भी जब गणों को मणि न मिली तो वे क्रोधित हो उठे और सबको नष्ट करने पर तुल गये। जब शंकर क्रोधित हो त्रिनेत्र से त्रिलोकी को जलाने पर आमादा हो गये तो योगियों ने शेषनाग को जगा दिया। भयभीत शेषनाग मणियां ही मणियां फुंकारने लगे।

इस स्थान में अब तक सचमुच मे मणियां निकलती थीं। उफनते पानी के साथ यह एक दूसरा आश्चर्य था। एक बार मणीकर्ण के पुजारी ने वे मणियां दिखाईं। वे छोटे-छोटे सुडौल गोल पत्थर थे, जो अब पुजारी के पास बहुत कम रह गये हैं। पहले ये लोग इन्हें प्रसाद के रूप में देते थे और जो श्रद्धालु यहां स्नान के लिए न आ पाये वे अपने स्नान के पानी में इन्हें डालकर नहाते थे तो इस तीर्थ का पुण्य पाया हुआ मानते थे।

कहा जाता है, वर्तमान राम मंदिर के पीछे एक उफनते पानी का स्रोत था, जिसमें बहुत ऊंचे तक पानी उफनता था। इसी से ये मणियां निकलती थीं। यह ऊंची धारा 7 फुट तक ऊपर उछलती थी। 1905 के भूकम्प में यह बंद हो गई। इस बात की पुष्टि मणीकर्ण में पुजारियों के पास उपलब्ध दर्शकों की सम्मतियों से भी होती है।

कांगड़ा के एक दर्शक श्री मेलाराम जो यहां सोलह वर्षों के बाद 21.7.1915 में आये, ने लिखा है कि रामचन्द्र मंदिर वाले गर्म पानी के स्रोत 1905 के भूकम्प से बदल गये हैं। ये आठ से दस फुट तक ऊंचे उठते थे, किन्तु अब ये 12 इंच से ऊपर नहीं जाते।

डी० एस० कॉलेज, लाहौर के प्रोफेसर एन० एन० गोबोल, जो मणीकर्ण में 24 जून, 1919 में आये, ने लिखा है कि मणीकर्ण के गर्म पानी के चश्मे उन्होंने इंग्लैण्ड फ्रांस तथा जर्मनी; सबमें अधिक गर्म पाये। इनमें से एक चश्मा जो आठ से दस फुट तक ऊंचा उठता था, अब केवल दस इंच ऊंचा ही रह गया है।

ऐसा कहा जाता है कि आठ से दस फुट तक ऊंचे उठने वाले इसी चश्मे से कभी-कभी मणियां निकलती थीं।

बुजुर्ग लोग इस बात का दावा भी करते हैं कि यहां एकाधिक शिव-मंदिर थे जिन्हें बाद में राम मंदिरों में बदल दिया गया।

शंकर, राम के बाद गुरु नानक

इस समय यहां एक भव्य गुरुद्वारा है जहां यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था के साथ-साथ हर समय लंगर लगा रहता है। कोई भी व्यक्ति पंगत में बैठ पेट-भर प्रसाद खा सकता है। सेवादार आपको खाने-पीने, बैठने-ठहरने के लिए आदरयुक्त शब्दों में पूछेंगे। पार्वती पार करने का पुल सीधा गुरुद्वारे में जाता है और कुछ सैलानी यह भी नहीं जान पाते कि ऊपर मंदिर भी है। पहले सीधे मंदिर में जाने का रास्ता पुल से था, जहां

पार्वती बहुत संकरी होकर दो चट्टानों के बीच से निकलती है। अब झूलने वाला रस्सों का पुल सीधा गुरुद्वारे में प्रवेश करता है। गुरुद्वारे के बाबाजी के अनुसार, जो यहां गत पचास वर्षों से हैं, गुरु नानक यहां अपने शिष्यों बाला-मरदाना सहित पधारे थे।

और अब हिप्पी

अब इस क्षेत्र में हिप्पियों का दखल भी बढ़ गया है। उनका पाश्चात्य संगीत पार्वती की सायं-सायं ध्वनि पर बुरी तरह हावी हो जाता है। कई बार सारा मणीकर्ण हिप्पियों से आच्छादित हो जाता है। वे यहां होटलों, दरिया के किनारे, मंदिर के बाहर बैठे, लेटे, सुस्ताते देखे जा सकते हैं। बहुत-से मणीकर्ण व इसके आसपास गांवों में किराये के मकानों में रहते हैं। नशे की खुमारी में आराम से पसरे रहना या ध्यानावस्था में लीन हो जाना ही इनका नित्यकर्म है।

हिडिम्बा : मानवीकरण से दैवीकरण तक

हिडिम्बा राक्षसी थी। उसका भाई हिडिम्ब नरभक्षी निशाचर था। आज वह राक्षसी के रूप में नहीं अपितु देवी के रूप में पूजी जाती है। मनु की मनाली के समीप ही ढूंगरी में हिडिम्बा का मंदिर है।

देवभूमि कुल्लू में वादी के देवताओं में ढूंगरी की माता हिडिम्बा का विशिष्ट स्थान है। इस देवी का यहां वही महत्त्व है जो पौराणिक देवी-देवताओं का कहीं अन्यत्र हो सकता है। देवी हिडिम्बा कुल्लू के देव शिरोमणि रघुनाथजी के समान पूजित है। कुल्लू दशहरा में भी देवी हिडिम्बा के आगमन के बिना रथयात्रा के लिए रघुनाथजी नहीं निकल सकते। राजा की ओर से देवी को विशेष बुलावा देकर बुलाया जाता है। दशहरे के दौरान ढालपुर मैदान में विभिन्न कृत्यों के लिए देवी को राजा द्वारा विशेष आग्रह से बुलाया जाता है। दशहरे के अंतिम कृत्य के समय भी देवी का रथ उपस्थित रहता है। राजपरिवार इसे दादी कहकर पुकारता है। हिडिम्बा का प्राधान्य इस घाटी में रघुनाथ जी से कदापि कम नहीं।

एक जनश्रुति के अनुसार कुल्लू के राजाओं को कुल्लू राज्य देवी की ही देन है, जिसके कारण यह राजवंश इसे अपनी कुलजा भी मानता है।

महाभारत के आदि पर्व में हिडिम्बा के विवाह का प्रसंग आता है। कुटिल कणिक की कूटनीति से प्रेरित धृतराष्ट्र व दुर्योधन पाण्डवों को वारणावत भेज देते हैं। वारणावत भेजे जाने की मन्त्रणा, लाक्षागृह के निर्माण का पता पाण्डवों को अपने हितैषी विदुर से लग जाता है। अतः वारणावत पहुंचने पर लाक्षागृह में वे सुरंग खुदवा लेते हैं। दिन में शिकार खेलने के बहाने जंगल में रास्ते का ज्ञान भी कर लेते हैं। दो वर्ष व्यतीत होने के बाद वे स्वयं ही लाक्षागृह में आग दिखा सुरंग के रास्ते पलायन कर जाते हैं।

जहां भीम का हिडिम्ब से साक्षात्कार हुआ, वह स्थान महाभारत में वर्णित घटनाओं के आधार पर मनाली नहीं हो सकता। पाण्डव सुरंग से निकल गंगा-तट पर पहुंचे। गंगा को नाव द्वारा पार कर वे वहां से दक्षिण दिशा की ओर बढ़े। बहुत थके होने के कारण वे कुछ ही दूर जाकर घने जंगल में ठहर गये। सभी थके-मांदे व प्यासे थे। सबकी प्यास बुझाने के उद्देश्य से भीम पानी लाने गये। वापस आकर देखते हैं तो माता कुन्ती सहित सभी निढाल हो सो गये हैं। जब दुखित मन भीम वहां खड़े-खड़े भूमि पर सोये अपने भाइयों व माता को देख रहे थे, हिडिम्ब ने उन्हें देखा। यहां यह भी

उल्लेखनीय है कि वे एक वट वृक्ष के नीचे ठहरे हुए थे और राक्षस हिडिम्ब समीप ही शाल वृक्ष पर बैठा था। वट व शाल वृक्ष ऊंचाइयों पर नहीं होते। ऐसा वातावरण गंगा-यमुना की तराइयों में मिल सकता है। हिडिम्बा ने वह काला-काला घोर जंगल ही अपना निवासस्थान बनाया था।

गंगा के समीप उस शाल के गहन वन में अपने भाई हिडिम्ब के साथ रहने वाली हिडिम्बा नरभक्षी राक्षसी थी जो सुर-असुरों में असुर तथा देव-दानवों में दानव समाज की प्रतीक है। हिडिम्ब ने उसे वहां पाण्डवों को मारने के लिए भेजा। भीम के सुन्दर बलिष्ठ शरीर को देख मोहितचित्त वह राक्षसी अपना आने का प्रयोजन भूल बैठी और मानवी का रूप धरकर उनके पास उन्हें वरण करने के उद्देश्य से प्रकट हुई। यही उसका मानवीकरण की ओर पहला कदम था।

भाई हिडिम्ब अधिक देर प्रतीक्षा न कर सका और घटनास्थल पर पहुंच गया। अपनी बहन को मानवी रूप में तथा भीम के साथ प्रेमालाप करते देख वह क्रोधित हो उठा और उसे लताड़ता हुआ वहां आ धमका। वीर भीम ने उसे धराशायी कर दिया। हिडिम्ब का भीम के हाथों धराशायी होना हिडिम्बा के मानवीकरण की ओर दूसरा कदम था।

माता कुन्ती, युधिष्ठिर आदि ने राक्षसी होने के कारण हिडिम्बा के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अर्जुन के कहने पर सभी ने वहां से प्रस्थान किया। हिडिम्बा भी पीछे हो ली। अंत में उन्होंने उसे अंगीकार किया और भीम ने उसके साथ पुत्र उत्पन्न हो जाने तक रहने का वचन दिया। भीम का हिडिम्बा के साथ विवाह हिडिम्बा के मानवीकरण का तीसरा सोपान था।

तत्पश्चात् वे विहार के लिए पहाड़ों की चोटियों, जंगल-तालाबों, गुफाओं आदि दिव्य भूमियों में विचरण करने लगे। यहां यह सम्भव है कि हिडिम्बा ने मानव के साहचर्य से अब संस्कारों में मूल रूप से परिवर्तन हेतु अपना निवासस्थान भी बदल लिया हो। इसी परिवर्तन की देन घटोत्कच था। अपने व पुत्र के विचारों में शुद्धिकरण हेतु ही अपना मूल निवासस्थान त्याग वह हिमालय के इस भाग में आ बसी हो, यह सम्भव है।

उक्त घटना के पश्चात् वन पर्व में बदरिकाश्रम जाते समय द्रौपदी के थक जाने पर भीम ने अपने पुत्र घटोत्कच का स्मरण किया। घटोत्कच तथा अन्य राक्षसों ने द्रौपदी सहित सभी पाण्डवों व ब्राह्मणों को उठा कैलाश की ओर प्रस्थान किया। भीम द्वारा पुत्र का हिमालय की तलहटी में स्मरण उसके निवास का हिमालय में ही इंगित करता है, चाहे वह हिमालय गंगा का हो, चाहे विपाशा का। इससे यह भी ज्ञात होता है कि घटोत्कच सभी पार्वती मार्गों से भली-भांति परिचित था।

घटोत्कच द्वारा ब्राह्मणों को तीर्थयात्रा हेतु उठाकर ले जाना, राक्षस कर्म में एक अपवाद है जो उसे हिडिम्बा के पैतृक कर्म में अलग दिशा का द्योतक है।

घटोत्कच महाभारत युद्ध में पाण्डव पक्ष की ओर से लड़ा। और ऐसे समय में,

जब पाण्डव सेना कर्ण की मार सहन न कर सकने के कारण पलायन कर रही थी, वह कर्ण से लोहा लेकर उनकी रक्षा करता है। कर्ण द्वारा अर्जुन को मारने के लिए रखी हुई इन्द्र द्वारा दी 'वैजयन्ती' नामक शक्ति घटोत्कच पर छोड़नी पड़ी। वस्तुतः युद्ध में घटोत्कच नहीं मरा, कर्ण ही मरा था। कर्ण उस शक्ति के बिना शक्तिविहीन हो गया और अर्जुन उसकी ओर से निश्शंक हो गये।

उद्योग पर्व में पाण्डव पक्ष के योद्धाओं का वर्णन करते हुए भीष्म ने घटोत्कच को रथयूथपतियों का भी अधिपति कहा है। उसके पास विशाल रथ था जिसके चारों ओर रीछ का चमड़ा मढ़ा हुआ था। रथ के चारों ओर रीछ का चमड़ा भी उसे ऊंचाइयों का पुत्र ही सिद्ध करता है।

हिडिम्बा का स्थान चाहे कोई भी रहा हो, किन्तु उसका दैवीकरण जिस भूभाग में हुआ, वह मनाली ही है। पाण्डवों ने उसे मनुष्यत्व व ममत्व प्रदान किया और इस वादी के लोगों ने देवत्व। पाण्डवों में से किसी की पूजा यहां नहीं होती। हिडिम्बा यहां भगवती की भांति प्रतिष्ठित हुई।

कितने देवता ! कितने मन्दिर !!

"धिक् भस्मरहित भालं, धिक् ग्राममशिवालयम्"

—बिना भस्म के ललाट एवं शिवालय के बिना ग्राम धिक्कार योग्य हैं।

इस धिक्कार से बचने का खूब उपाय हुआ है देवघाटी कुल्लू में। यहां कोई गांव देवताविहीन नहीं है। कुछ ग्रामों में एक से अधिक देवता प्रतिष्ठित हैं। ग्राम देवताओं के सजे रथों, उनके स्थानों, भण्डारों, निर्जनों में जोगनियों के बन्द मंदिरों के अतिरिक्त यहां अन्य मंदिर भी हैं जिनमें बजौरा, मणीकर्ण, दयार, दशाल, जगतसुख, नग्गर, मनाली, निरमण्ड आदि के मंदिर उल्लेखनीय हैं। इस धरा पर अनेकों ऋषि—मनु, वशिष्ठ, पाराशर, जमदग्नि, परशुराम, मार्कण्डेय, श्रृंग, कपिल, दुर्वासा, नारद आदि; कई देवी-देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, रघुनाथ, कृष्ण, दुर्गा, पाण्डव, हिडिम्बा आदि के अतिरिक्त नाग, सिद्ध व जोगनियां हैं।

मुख्यतः यहां दो प्रकार के मंदिर हैं—एक ग्राम देवता के, और दूसरे जिन्हें सार्वजनिक मंदिर कहा जा सकता है। ग्राम देवता के मंदिरों के भीतर कोई मूर्ति नहीं होती और न ही लोगों द्वारा विधिवत् प्रतिदिन पूजन ही होता है। देवता के मोहरे या तो पुजारी के घर में होते हैं या देवता के भण्डार में। प्रतिदिन देवता का पुजारी इन मोहरों को या केवल धड़छ, घण्टी आदि को ही धूप देता है। देवता का रथ विशेष अवसरों पर ही सजता है, जब वह मंदिर में आकर विराजता है। फिर यहां पर धार्मिक कृत्य होते हैं। नृत्य होते हैं। मंदिर के समीप ही भण्डार में देवता की सम्पत्ति सुरक्षित रखी रहती है। इन धार्मिक कृत्यों के बाद पुनः मोहरों को उतारकर भण्डार में या पुजारी के घर में रख दिया जाता है और पुनः इन मंदिरों में शान्ति छा जाती है। वास्तव में ये मंदिर देवता की कार्यवाही के समय एक सराय के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ग्राम देवता के ऐसे कुछ मंदिरों जैसे वशिष्ठ, दयार, त्रिपुरा सुंदरी, संध्या गायत्री आदि में मूर्तियां भी प्रतिष्ठित हैं। ग्राम देवता की सारी व्यवस्था पुजारी, गूर तथा कारदार करते हैं। पुजारी के जिम्मे पूजा का कार्य रहता है। गूर देवता का वक्ता होता है। कारदार के हाथों देवता की सारी व्यवस्था रहती है। देवता के कारजों के समय वह पूरा इंतजाम करता है। कुछ देवताओं के पुरोहित भी होते हैं। गूर प्रायः एक ही खानदान से देवता की अनुकम्पा पर निकलता है। पुजारी व पुरोहित एक ही वंश से होते हैं। कार-दार को बदला जा सकता है। इनके अलावा देवता का बाजा होता है जो मंगलाचरण के

लिए प्रयुक्त होता है।

दूसरे प्रकार के मंदिर हैं जो समस्त भारत में पाए जाते हैं जिनके भीतर मूर्तियां होती हैं। पुजारी होता है। नित्यप्रति पूजा-अर्चना होती है। श्रद्धालु आते हैं। इस तरह के उत्कृष्ट मंदिर भी यहां कम नहीं। यह मंदिर संस्कृति फैली है बजौरा से लेकर ब्यास के दोनों किनारों पर और विशेषकर बाएं किनारे जगतसुख से नग्गर तक। जगतसुख का संध्या गायत्री देवी व शिव मंदिर, दशाल का शिव मंदिर, सजला का शिव मंदिर, नग्गर के शिव, गौरी-शंकर, मुरली मनोहर मंदिर अपनी बेजोड़ कला व प्राचीनता के कारण प्रसिद्ध हैं। इसी तरह प्राचीन मंदिर निरमण्ड में भी हैं। बजौरा का शिव मंदिर आठवीं शताब्दी के मध्य का बताया जाता है। जगतसुख का मिनिएचर शिव मंदिर सातवीं शताब्दी का। बजौरा से प्राप्त सूर्य मूर्ति आठवीं शताब्दी से भी पहले की बताई जाती है।

बजौरा में वर्ष 1980 में दरिया के समीप ही एक चौंका देने वाला शिवलिंग निकला। यह शिवलिंग छः फुट ऊंचा है और छः फुट के लगभग ही इसकी परिधि है। इसे निकालने का साहसिक कदम एक साधु ने उठाया जो बजौरा में सड़क के किनारे रहता है। यद्यपि यह लिंग पहले भी दिखाई देता था। इसका ऊपरी भाग उभरा हुआ था किन्तु किसी व्यक्ति को इसे खोदकर लाने की हिम्मत न हुई। ऐसा कहा जाता है कि यहां महाकालेश्वर का मंदिर था। साधु ने ग्रामीणों की मदद से यह कार्य पूरा किया और ट्रैक्टर में लाद इसे सड़क के किनारे पहुंचाया। अब यह सड़क के किनारे स्थापित कर दिया गया है। इसके साथ मंदिर का गोलाकार ऊपरी हिस्सा भी वहां से उठाकर लाया गया।

इसके अतिरिक्त भी यदा-कदा मंदिर व मूर्तियां निकलती रहती हैं। पिछले दो वर्षों में ही अनेकों मूर्तियां प्रकट हुईं। इन नई (यद्यपि पुरानी) निकली मूर्तियों में हैं—गांव सजला, चौदह मील, पन्द्रह मील, पिरड़ी, जिया आदि में धरती के गर्भ से उपजी मूर्तियां।

ब्यास के बाएं किनारे पर जगतसुख और नग्गर के बीच है गांव सजला। सड़क पर मजदूर कार्यरत थे और ऊपर की ओर निकल आया बावड़ी सहित मंदिर। ये घटना 5 जुलाई, 1978 की है। बावड़ीनुमा मंदिर में सामने शेषशैया पर विष्णु लेटे हैं, आमने-सामने दीवारों पर ब्रह्मा-महेश हैं। यद्यपि मूर्तियां वास्तुकला की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं हैं तथापि गांव के बुजुर्गों ने अपनी यादगार में इस बावड़ी के बारे में कभी नहीं सुना।

14 मील, जो पतली कुह्ल से आगे है, में श्री देवीसिंह सुपुत्र श्री तशीराम के घर गंगा की मूर्ति आश्चर्यजनक रूप से प्रकट हुई। श्री तशीराम के अनुसार घर की पक्की दीवार में बार-बार दरार पड़ने पर तान्त्रिक की सहायता से मूर्ति का पता चला। रेत और पानी से निकली यह मूर्ति मगर पर आसीन गंगा की है। अब यहां एक नया मंदिर बनाकर इसे प्रतिष्ठित कर दिया गया है।

इसी तरह पिरड़ी में मंदिर के पास खुदाई के समय दो पाषाण मूर्तियां निकलीं। एक देवी की और दूसरी समाधिस्थ पुरुष की। ऐसा कहा जाता है, इस स्थान पर राणाओं के महल थे। इसी तरह जिया गांव में भी राणाओं के महलों का कभी निर्माण आरम्भ हुआ था। वहां भी शिव मंदिर व एक अन्य भव्य मंदिर के अवशेष मिले हैं। पन्द्रह मील पर भी सड़क के किनारे शिव मूर्ति निकली जिसमें शिवलिंग एक पत्थर के अन्दर फिट है।

एक विष्णु की मूर्ति नगर में शिव मंदिर के पास निकली। इसी तरह से शमशों के पास तथा नगर में पुराने राजाओं व सती हुई रानियों की यादगार में पत्थर की बनी मूर्तियां ढेरों के हिसाब से पड़ी हैं जो कुछ धरती पर हैं, कुछ नीचे दब गई हैं।

ग्राम देवताओं के साथ-साथ यहां अन्य सार्वजनिक मंदिर भी अनेकों रहे हैं। जो मंदिर अभी भी विद्यमान हैं, वे दूरी व रास्ते की दुर्गमता के कारण उतने प्रसिद्ध नहीं हो पाये।

फागली : मुखौटा नृत्य व देवगाथा का पर्व

फाग का महीना आते ही कुल्लू में मेलों का आयोजन आरम्भ हो जाता है। ये सभी मेले देवता से सम्बन्धित होते हैं, जिनमें देवता व मनुष्यों का अद्भुत समागम होता है। फागुन के अंगड़ाई लेते ही देवता जागते हैं और अपने स्थान पर वापस आकर अपनी प्रजा को सुनाते हैं आगामी वर्ष के बारे में भविष्यवाणियां और अपनी इस वर्ष की उपलब्धियां। इस अंतिम मास के बाद नया वर्ष आरम्भ होगा। बर्फ पिघलेगी, अंकुर फूटेंगे, बसंत झूमेगा।

फागुन में वादी के लगभग सभी देवताओं के यहां फागली मनाई जाती है। प्रायः एक कोठी (इलाके) के देवता अपने मुख्य देवता के यहां फागली मनाते हैं। अपनी युद्ध-गाथा में मुख्य देवता सेनापति होता है और अन्य देवता सहायक। मलाणा के जमलू की फागली प्रसिद्ध है। वहां यही एकमात्र पर्व है जब देवता का सारा साज-सामान बाहर निकलता है। कुल्लू में भी जमदग्न के सारे स्थानों में, जो बारह बताए जाते हैं (वस्तुतः ये अधिक हैं), फागली मनाई जाती है। अन्य देवताओं के यहां भी फागली अपने-अपने ढंग से मनाई जाती है। यह पर्व फागुन की संक्रांति से आरम्भ होता है और मासान्त तक चलता है। कहीं एक दिन, कहीं तीन दिन तो कहीं सात दिन तक फागली चलती है। पर्व के दिनों ग्रामीण अपने चूल्हों में बेठल (धूप की जड़ी) डाल छोड़ते हैं ताकि देवता आने पर लौट न जाये।

मोहरू के पेड़ और चजोगी गांव

नगर के ऊपर लगभग दो किलोमीटर पर है चजोगी गांव। यह इस पहाड़ पर अन्तिम गांव है, लगभग 1,800 मीटर की ऊंचाई पर बसा देउ अम्बल का गांव। देउ अम्बल, जिसे राजा बलि कहा जाता है, पाताल से निकल यहां प्रकट हुआ था। गांव की सीमा से ही मोहरू के पेड़ों का जंगल शुरू हो जाता है। गांव के चारों ओर हरे-हरे मोहरू के पेड़ छितराए थे। एक व्यक्ति से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये पेड़ देवता के समझे जाते हैं। देवता इन्हें काटने की आज्ञा नहीं देता। बस इसके पत्ते पशुओं को चारे के रूप में डाल सकते हैं। यदि कोई इन्हें काट दे तो उसका अनिष्ट होता है।

चजोगी में 14 फरवरी से 19 फरवरी तक फागली हुई। यहां पर्व के अन्तिम दिन मुखौटे लगाकर नृत्य होता है। इस दिन को 'कोटलू' कहा जाता है।

देवता वर्ष में तीन बार निकलता है। एक फागली को, दूसरी बार जेठ में साजा कजैह्ली को और तीसरी बार जन्माष्टमी को। देउ अम्बल का गांव में कोई रथ नहीं है। केवल तीन निशान—घण्टी, घड़छ और खण्डा हैं। यद्यपि इसी देवता का एक रथ या करड़ (एक आदमी द्वारा सिर पर उठाया जाने वाला टोकरा) है, जो पास के नशाल गांव में है। चजोगी से कुछ ऊपर जमलू का स्थान भी है।

देवता के सभी कर्मचारी पहले दिन मंदिर में आ गए थे। प्रातः पुजारी आदि देवता को मंदिर से संलग्न 'मढ़' (जिस सरायनुमा जगह में देवता की कार्यवाही होती है) में ले जाते हैं जहां देव-जागरण होता है। दूसरे दिन प्रातः नशाल से देवता का करड़ आता है जो उसी शाम वापस हो जाता है। सभी कृत्य बाजे-गाजे के साथ किए जाते हैं।

पर्व के चौथे दिन जब मैं वहां पहुंचा तो किसी आयोजन के कोई चिह्न नहीं थे। बर्फ की परतें तो नग्गर से ही आरम्भ हो गई थीं। यहां घरों की छतें बर्फ से ढकी थीं और धूप से पानी टप्-टप् नीचे गिर रहा था। मन्दिर के पास ही एक घर में एक व्यक्ति ने आदर से मुझे बिठा लिया। उसने बताया कि आज वैसे भारथा होती है जिसे 'बर्शोहा' कहा जाता है। इसमें देवता अपना इतिहास सुनाता है कि वह अमुक स्थान से आया और अमुक स्थान पर ठहरा। उसने यह किया और वह किया। इसके बाद गांव पर आने वाली आपदाओं की भविष्यवाणी होती है। आने वाला वर्ष गांव के लिए कैसा रहेगा, यह बताया जाता है।

गूर : देवता का जीवन्त प्रतीक

गूर के बिना आज यह कार्यवाही नहीं हो पाई। वास्तव में गूर ही देवता का इहलौकिक प्रतीक है। उसी के माध्यम से देवता मनुष्यों से जुड़ा है। वही देवस्वरूप हो कर मनुष्यों से वार्तालाप करता है, भविष्यवाणियां करता है, रोष-हर्ष प्रकट करता है। देव-मानव की वह बीच की कड़ी है।

इस देवता के गूर खीमदास की दो वर्ष पूर्व मृत्यु हो चुकी है। उसके बाद अभी तक कोई और गूर नहीं बना।

"क्या अब कोई गूर नहीं बनेगा ?" मैंने शंका व्यक्त की, क्योंकि अब गूरों की संख्या कम होती जा रही है। कोई अब गूर बनना पसंद नहीं करता। गूर के जीवन में कई तरह की वर्जनाएं हैं। उसे नियमित व प्रतिबन्धित जीवन जीना होता है। अधिकतर देवताओं के गूर सिगरेट-तम्बाकू नहीं पीते। गूर को लम्बे बाल रखने होते हैं। सूतक-पातक का परहेज करना होता है। यहां तक कि कइयों को हल पकड़ना वर्जित है। ऐसी स्थिति में और वर्तमान हालातों में जब देवता को कोई विशेष आय नहीं होती, आस्था कम हो रही है, गूरों का जीवन दूभर हो गया है। देवताओं के क्रियाकलापों में उन्हें चोला कमर में लपेटे, बाल बिखराए नंगा होना पड़ता है। गूर बनने से पूर्व भी उन्हें अग्नि-परीक्षाओं से गुजरना होता है।

प्रायः गूर अब अपने पुत्रों को गूर न बनने की नेक सलाह देते हैं। परन्तु ऐसा

भी कहा जाता है कि जिसे देवता अपना गूर बनाना चाहे, वह लाख कोशिश करने पर भी गूर हुए बिना नहीं रह सकता। इस विषय में एक गूर के पुत्र की चर्चा की जाती है कि पिता ने पुत्र को गूर न बनने की सलाह दी। पुत्र भी गूर बनने में रुचि नहीं रखता था। अतः उसने देवताओं के लिए वर्जित वस्तुओं का प्रयोग आरम्भ कर दिया। सिगरेट-तम्बाकू के साथ तथा जूते पहने देवता नहीं आता था। एक बार वह नहाने के लिए नंगा हुआ तो देवता उसमें प्रवेश कर गया और अन्ततः उसे गूर बनना पड़ा।

"नहीं। गूर तो कोई न कोई बनेगा ही। गूर के बिना तो देवता गूंगा है। शायद कोई गूर निकल आए!" उस व्यक्ति ने मन्दिर के दरवाजे की ओर देखते हुए कहा।

अक्सर जिस व्यक्ति के उभरने (देवता आने पर) पर सिर की टोपी गिर जाए, वह गूर माना जाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि जिसकी टोपी गिर जाए, या जो अपनी टोपी उस समय गिर जाने दे (क्योंकि गूर के अलावा अन्य व्यक्ति के उभरने पर वह एक हाथ से अपनी टोपी थामे रखता है), तो अवश्य ही गूर बन जाएगा, अलबत्ता उससे गूर बनने की सम्भावनाएं हो जाती हैं। कई बार वह गूर नहीं भी बनता। गूर घोषित करने के लिए पहाड़ की चोटी से एक जड़ी बेठल लानी होती है। इसी जड़ी से देवता को धूपित किया जाता है। इसे पवित्र माना जाता है और लोहे से काटा नहीं जाता। देवता को धूपित करने के लिए इसे लोग नवरात्रों में जाकर लाते हैं। जो गूर उभरकर यह जड़ी जोत से ले आता है, उसे असली गूर मान लिया जाता है। उन्मत्त गूर भागता हुआ पहाड़ की चोटियों पर चढ़ जाता है जहां बेठल होती है। बेठल लेकर उसी जोश वाली स्थिति में वह वापस आ जाता है।

एक देवता के एक से अधिक गूर भी होते हैं। आम तौर पर पहले बना गूर वरिष्ठ गूर माना जाता है और उसके बाद कनिष्ठ।

इस देवता के गूर खीमदास के विषय में बताया गया कि वह अक्सर उन्मत्त स्थिति में चन्द्रखणी पर्वत पर जाया करता था और वहां से बेठल लाता। प्रायः वह ऐसा करता और बर्फीले व दुर्गम पर्वत पर भागता हुआ चढ़ जाता। एक बार एक स्थान पर वह नाला पार कर रहा था कि देवता भीतर से निकल गया। वह एकदम ठण्डा हो गया। परन्तु उसी समय दैवयोग से देवता आ गया और वह पुनः उस अगम्य पथ को सुगमता से लांघ गया। ऐसी एक घटना एक अन्य गूर के विषय में भी सुनाई जाती है कि वह एक ऐसी चट्टान पर जा पहुंचा जहां से निकल सकना सम्भव न था परन्तु देवता के प्रभाव से वह वहां से निकल आया। इस तरह की घटनाएं देवताओं के गूरों के विषय में परी-कथाओं की तरह सुनाई जाती हैं।

देवता ने खीमदास को ऐसा करने से टोका भी था कि इससे उसके जीवन को खतरा है। जब देवता उससे उतर जाता तो वह बैठकर रोता था क्योंकि तब ठण्ड भी लगती थी और जोश भी उतर जाता था।

गूर वंशज

वहीं ऐसा भी ज्ञात हुआ कि गूर उसी वंश का आदमी बनता है। एक गूर अपने वंश के किसी व्यक्ति, पुत्रादि को ऐसी दीक्षा देता है। और यदि वह उसमें खरा उतरे और देवता की कृपा हो तो गूर भी बन जाता है।

"भारथा में देवता का इतिहास तो हर वर्ष एक-सा होता है ?" मैंने पूछा।

"हां, इतिहास तो एक ही तरह रहता है जो गूरों को कण्ठस्थ होता है। एक गूर अपने शिष्य गूर को यह रटवा देता है।" उसने स्वीकारा।

"दूसरा, अर्थ यह हुआ कि भारथा गूर स्वयं ही बोलता है, देवता नहीं। जैसे अब यहां गूर बनेगा तो उसे भारथा कैसे आयेगी ?"

"सम्भवत: गूर ने अपने किसी सम्बन्धी को सिखाई हो···या देवता की कृपा से आ जाये।" देवता की कृपा से आने की बात वह ज्यादा विश्वास से नहीं कह पाया।

वैसे गूर भारथा पूछने पर बताते नहीं और कहते हैं कि यह उसी समय उनके मुंह से प्रकट होती है, ऐसे अप्रासंगिक रूप से नहीं।

सगरात

उसी रात 'सगरात' थी। इस रात्रि एक-डेढ़ बजे नृत्य होता है। इस नृत्य में परसों होने वाले नृत्य के लिए नर्तकों का चयन होता है। इस रात चयनित नर्तकों को परसों 'कोटलू' के लिए नृत्य करने के लिए वचनबद्ध होना होता है। इसी रात को सगरात कहा जाता है।

अंतिम समारोह : कोटलू

अंतिम दिन होता है कोटलू। इस शाम मुखौटे पहन नृत्य होता है। यह मुखौटा-नृत्य अन्य स्थानों—सोएल, हलेउ, हलाण, शलीण, रूमसू आदि में भी होता है। इन गांवों में कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन मुखौटेधारी अपने-अपने ढंग से नाचते हैं। सोएल में मुखौटाधारी को नाचते-नाचते जोश आ जाता है, तब उसे दो आदमी पकड़े रखते हैं। लोगों का विश्वास है कि भाग जाने पर कहीं जाकर उसकी मृत्यु हो जाती है। मुखौटे-धारी 'टुण्डी राक्षस' का अभिनय करता है। एक अन्य राक्षसी का अभिनय करता है। वास्तव में ये मुखौटे पहनते नहीं बल्कि एक हाथ से माथे पर थामे रखते हैं।

मुखौटा-नृत्य

सायं लगभग तीन बजे देवता की कार्यवाही आरम्भ हो गई। नर्तक भी अपने-अपने घरों में तैयार होने लगे। मुखौटे धारण करने वालों को तैयार होने की आवश्यकता नहीं थी। उनका शृंगार तो मढ़ में ही होना था। चार लकड़ी के मुखौटे मठ में दीवार

से टिकाकर रखे थे। उनके ऊपर रंगों, चाक आदि से चित्रकारी कर दी गई थी। मुखौटों की काष्ठकला अच्छी थी। विशेषकर उनकी नुकीली नाक बहुत सुन्दर थी। दाढ़ों में राक्षसी भयंकरता को प्रकट किया गया था। चारों मुखौटों की अपनी-अपनी अनुकृति थी। चार व्यक्तियों के मुंह पर मुखौटे चढ़ा दिये गये और उनके शरीर के ऊपरी भाग में कलात्मकता से राथल नाम की झाड़ी के पत्ते-टहनियां लगा दीं।

मनुष्य-राक्षस नृत्य

मुखौटों को 'खेपरे' कहा जाता है और पारम्परिक वेशभूषा वाले नर्तकों को 'गुड़ी'। मढ़ से सबसे पहले चार नर्तक पारम्परिक चोला-टोपा पहले नर्गिस फूलों से सुसज्जित हुए निकले। उनके आगे एक लीडर था जिसे 'धुरी' कहा जाता है। इसी प्रकार चार मुखौटाधारियों के आगे भी धुरी था जो चोला-टोपा पहने हुए था। धुरी के हाथ का डण्डा पिछले मुखौटे वाले ने घुटनों के पास हाथ से पकड़ रखा था। इसी तरह डण्डे का दूसरा किनारा उससे पिछले मुखौटे वाले ने। सभी इसी तरह एक-दूसरे से जुड़े थे। सारे नृत्य में ये डण्डे नहीं छोड़े जाते। यदि डण्डा किसी से छूट जाये तो उसके लिए अशुभ माना जाता है। न ही ये नर्तक मुंह से कुछ बोलते हैं।

चार नर्तक, चार मुखौटेधारी, दो धुरी देवता के बाजे, पुजारी सहित मन्दिर के सामने छोटी-सी जगह में आ गये। यहां पहले चार नर्तक, एक धुरी का नृत्य हुआ, केवल बाजे पर। कोई गाना नहीं गाया गया। इसके बाद चार मुखौटेधारी तथा धुरी ने नृत्य किया। धुरी के हाथ में कुल्हाड़ीनुमा शस्त्र था जिसे वह बार-बार पहले मुखौटेधारी के सिर पर घुमा रहा था। एक ने बताया कि कई बार इस प्रक्रिया में गूर खेलता है और राक्षसी मुद्रा में मुंह फाड़ता है। तब उसे देवता के डण्डे से डराकर शान्त किया जाता है।

अब वे मंदिर से कुछ आगे खुली जगह में अखरोट के पेड़ के नीचे नृत्य करने लगे। देवता के पुजारी आदि एक ओर बैठ गये। नृत्य देखकर लग रहा था कि यह सुर-असुर, देव-दानव, मनुष्य-राक्षस होड़ लगाये नृत्य नहीं कर रहे। यह नृत्य संग्राम का प्रतीक नहीं है अपितु संग्राम के उपरान्त सन्धि का प्रतीक है। एक समन्वय का प्रतीक है। मनुष्य-राक्षस संस्कृति का समन्वय!

'धुरी' मानव था जो राक्षसों का नेतृत्व कर रहा था। उनकी आसुरी शक्तियों को बार-बार शस्त्र फेर शान्त कर रहा था। भयंकर आकृतियों वाले राक्षस उसका अनुसरण कर रहे थे।

दौड़ प्रतियोगिता

इसके बाद नर्तकों की दौड़ हुई। नीचे देवता का एक स्थान है जहां तक नर्तक भागते हैं। जो पहले पहुंच जाये उसे वरद समझा जाता है। उसके लिए नया वर्ष शुभ है। वापसी पर सभी मन्दिर होकर पुनः अखरोट के पेड़ के नीचे आ जाते हैं। पुनः नृत्य

आरम्भ हो जाता है। अब राक्षस अपने लिए नारी तलाशते हैं। सम्पूर्ण दर्शक समुदाय में भगदड़ मच जाती है। राक्षसों के पास खड़े आदमी उन्हें किसी आदमी के पास ले जाते हैं जिसे उसके लिए औरत प्रस्तुत करनी होती है। यह मजाक केवल मजाक के पात्र व्यक्तियों से ही किया जाता है। जैसे बहनोई साले को पकड़ लेगा और अपने लिए स्त्री पेश करने को कहेगा। राक्षस कंघी, शीशा, कपड़े आदि दिखा औरतों को रिझाते हैं।

फागली : देवगाथा और भविष्यवाणियों का पर्व

कुल्लू के देवताओं को सुप्त अवस्था से जागृत करता है फागुन, जब मनुष्य-वनस्पति की सुप्त शक्तियां एकबारगी फूटकर बाहर निकलना चाहती हैं। इस फाग के मौसम में यहां मनाई जाती हैं फागलियां, तकरीबन हर देवता के यहां। फागुन की संक्रान्ति से आरम्भ होकर फागली महीना-भर चलती रहती है, एक गांव से दूसरे गांव में—वासंती हवा की तरह। कायस से होकर यह पर्व जाणा, हलाण होता हुआ रोपड़ी, भलयाणी तथा दरपौइण तक पहुंचता है।

देवगाथा और भविष्यवाणियां

अपनी सुप्त अवस्था में भी ये देवता जागृत रहते हैं और कहीं जाकर युद्ध करते हैं। अपनी भारथा में ये युद्ध में जाने और हारने-जीतने के किस्से अपनी प्रजा को आकर सुनाते हैं। भारथा में ये पुरातन किस्से दोहराते हैं। युद्ध में हारने या जीतने की बात नई होती है। कभी देवता हारते हैं, कभी जीतते हैं। फिर गांव के लिए वर्षा, अकाल, बीमारी, खुशहाली आदि लाते हैं और उसी के अनुरूप आगामी वर्ष में अच्छा या बुरा होने की भविष्यवाणियां करते हैं। अपने इलाके में मुख्य देवता प्रभावी रहता है और अन्य देवता उसके सहायक के रूप में होते हैं। इसीलिए कई स्थानों पर संयुक्त फागली मनाई जाती है।

सारी फागली

सारी गांव कुल्लू के ऊपर पहाड़ी पर अंतिम गांव है। इसके नीचे भेखली देवी है। यहां के देवता को 'सारी नाग' के नाम से जाना जाता है। यहीं से आगे सारी-जोत है जहां भादों में एक मेला लगता है। सारी फागली 26 फरवरी (सन् 1981) को हुई।

देवी का प्रस्थान

लगभग चार बजे सायं देवी का प्रस्थान सारी की ओर हुआ। इस देवी या देवत का रथ नहीं सजता, कुछ साज-सामान ही बाहर निकलता है। देवी का पुजारी, गूर झंडियों, छड़ियों आदि सहित ऊपर की ओर चल दिये। भेखली से कुछ ऊपर चढ़कर वे रास्ता छोड़ खेतों के बीच होकर चलने लगे। यही देवी का रास्ता है। इन खेतों र

ठीक ऊपर सारी गांव दिख रहा था।

आधा रास्ता तय कर लेने के बाद देवी के नरसिंगे बजाये गये। ऊपर रखे देवता के घौंसे की चोट ने इसका प्रत्युत्तर दिया। फिर काफिला आगे चल दिया। नरसिंगों का बजाना देवी आने की सूचना थी जिसका जवाब ऊपर घौंसे की चोट से दिया गया। रास्ते में फिर दो बार नरसिंगे बजाये गये। गांव आरम्भ हो गया था। अपने घरों से निकले ग्रामीण देवी को धूपित कर रहे थे। देवी की अगवानी के लिए देवता का बाजा नीचे आ गया था। वहां से बाजे सहित सभी आगे बढ़े। देवता के मन्दिर के आगे बहुत-सी झाड़ियां इकट्ठी की हुई थीं। देवी के पहुंचते ही उनमें आग फूंक दी गई। वहां खड़े बाजे वालों ने पुनः आगे बढ़ देवी की अगवानी की।

गूर-खेल

सभी गूर देवता को धूप आदि देने के बाद मढ़ को चले गये जहां उन्होंने अपनी वेशभूषा पहन ली। देवता के मन्दिर के आगे आकर भेखली के गूर ने उलटबाजियां खाते हुए मन्दिर की ओर प्रस्थान किया। उसके बाद वह भागता हुआ नीचे जल-स्रोत में नहाने चला गया। वापस आने पर गूर नहाया हुआ तो लगता नहीं था, अलबत्ता शरीर पर पानी के छींटे अवश्य थे। अब गूरों ने चोले उतार कमर में लपेट लिए और गूर-खेल आरम्भ हुई। सबसे पहले भेखली के गूर ने नृत्य करते हुए चारों दिशाओं को नमन किया। फिर सब गूरों ने बारी-बारी धूप लेकर चारों दिशाओं को नमस्कार किया। अंत में वे भेखली के गूर से मिलते थे। भेखली का गूर सबको नचाता। नृत्य में कटार, संगल का भी प्रयोग किया जा रहा था। इस सारी प्रक्रिया में देवता का बाजा अपनी विशिष्ट धुन में बजता रहा।

देव-गाथा : भविष्यवाणियां

अब सभी गूर घुटनों के बल बैठ गये। देवता के मन्दिर के दरवाजे के ठीक सामने बैठा था भेखली मैया का गूर। उसके दाईं ओर पंक्ति में बैठे थे तीन गूर—पहला बनोगी गांव के कोधु नारायण का, दूसरा नलाज गांव के नाग नारायण का और तीसरा सारी नाग का।

अब भारथा आरम्भ हुई। भेखली मैया ने अपनी कथा सुनाई कि वह कहां से चली, कहां पहुंची, कहां जीती, कहां हारी, क्या पाया, क्या खोया। इस वर्ष देवी जीतकर आई थी। अतः यह वर्ष शुभ न था। यदि देवता हार जाये तो वर्ष शुभ समझा जाता है और यदि जीत जाये तो अशुभ। इसी तरह गूरों ने अपने-अपने देवता की कथा सुनाई। कथा कोई विशेष लम्बी न थी। पता लगा कि वे संक्षिप्त रूप से ही सुना रहे थे। प्रायः इस कथा के अंत में पुराने समय और आज के समय की तुलना की जाती है। देवता इस बात से कुपित होते हैं कि कलियुग में मनुष्य का दीन-धर्म कुछ नहीं रहा है। ज्यादातर इसी तरह की टीका-टिप्पणी मनुष्यों पर की जाती है।

ग्रामीण बड़ी श्रद्धा से यह सब सुन रहे थे। गूर जमीन के पास सिर ले जा कर घुमाते हुए बोल रहे थे—"हारी बिंदरों ! गौ-ब्राह्मणों ! ···" ग्रामीण कुछ देर बाद हांक लगाते—"अइँऽऽऽ···परमेसरा !" देवी के कहने पर "अइँऽऽऽ···माया !" कहते।

गूर पूरी तरह से उभरे हुए प्रतीत नहीं हो रहे थे। ऐसा लग रहा था कि वे अपने से ही बोल रहे हैं। जो स्थिति पूरी तरह देवता आने पर होती है, वैसी उनकी न थी। भेखली के गूर की एक बांह कांप रही थी। उस ऊंचाई वाले स्थान में शाम के समय जब आकाश में बादल थे, ठण्ड भी काफी थी। यदि गूर रटा-रटाया, शिक्षक गूर द्वारा सिखाया ही बोलते हों तो देवता के आने की प्रतीक्षा की आवश्यकता भी क्या है ! जैसा कि यहां सीधा ही बोलना आरम्भ कर दिया गया, किसी गूर ने प्रतीक्षा नहीं की कि देवता आयेगा तभी बोला जाएगा बल्कि बारी-बारी सभी बोलते गये। यद्यपि देवता के युद्ध व अन्य ताजा घटनाओं तथा भविष्यवाणियों के समय गूर में देवता का प्रवेश आवश्यक समझा जा सकता था।

ऋषि जमदग्नि की फागली

दरपौइण के जमलू देवता की फागली। इस क्षेत्र में अंतिम फागली 12 मार्च से आरम्भ होकर तीन दिन तक चली। इस फागली के साथ फागुन का महीना बीत गया। पहले दिन देवता का रथ निकला। दूसरे दिन देवता अन्य गांव में आमन्त्रित था और तीसरे दिन भी जातर। मलाणा की फागली की परम्परा में कुल्लू में जाणा आदि गांवों में मनाई जाने वाली फागलियों में यह अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

जमदग्नि ऋषि का प्रचण्ड पौराणिक व्यक्तित्व इस क्षेत्र में इतना हावी हुआ है कि अनेक स्थानों पर ऋषि के स्थान बन गये हैं। प्रायः सभी स्थान अत्यन्त रमणीक और दिव्य भूमियों में अवस्थित हैं।

वादी के देवताओं में दरपौइण के जमलू की शान-शौकत निराली है। देवता का अपना काफिला ही पर्याप्त है जश्न के लिए। बत्तीस कर्मचारी हैं देवता के जिन्हें 'कारज' के समय मुस्तैदी से उपस्थित होना पड़ता है। तीन गांवों के बाजे इकट्ठे होते हैं। झंडे, छड़ियां, देवता के निशान, चांदी के रणसिंगों का काफिला जब निकलता है तो समां बंध जाता है। देवता के दो रथ हैं—एक करड़ू, जो पुराना है। इसे एक आदमी मुकुट की भांति सिर पर धारण करता है। दूसरा, दशहरे में ले जाने के लिए बनाया गया विशिष्ट रथ है।

देवता की शोभा-यात्रा

प्रातः दस बजे के करीब पीज गांव से देवता का पुरोहित भण्डार में आ गया। वहां हवन आदि कृत्यों के बाद ही देवता का रथ सजना था। पुरोहित के भण्डार में जाने पर मैं पुजारी के घर बैठ गया जो भण्डार के साथ ही था। वहां तंदूर के पास देवता का वरिष्ठ गूर लज्जू, कारदार तथा कुछ अन्य बुजुर्ग बैठे बतिया रहे थे। एक आदमी अपनी गोद में मेमना लिए बैठा था।

सुबह होते ही आकाश को पुनः बादलों ने ढक लिया था। अभी परसों ही ऊपरी हिस्सों में बर्फ गिरी थी। जहां-तहां बर्फ जमी पड़ी थी।

पुजारी व कारदार भण्डार में देवता की तैयारी करने चले गये। देवता के मोहरे, कपड़े आदि एक संदूक में बन्द रहते हैं जिन्हें कारदार ही निकाल सकता है। पुजारी प्रतिदिन बाहर रखे धड़छ तथा घण्टी की पूजा करता है। मन्दिर में देवता का सोने का

घोड़ा भी बताया जाता है। ऋषि को लोग अपनी मनोकामना पूरी होने पर घोड़े चढ़ाते हैं। मलाणा की भांति यहां भी घोड़े का महत्त्व है।

कुछ ही देर बाद बारिश शुरू हो गई। देवता की सवारी तो निकलनी थी। चाहे बारिश हो चाहे बर्फ गिरे। लगभग दो बजे देवता की शोभायात्रा 'मौढ़ा बाड़ी' की ओर चली। ग्रामीण धूप लिए अपने घरों के बाहर देव-वंदना के लिए खड़े थे। आटे की तरह महीन बारिश अब भी गिर रही थी।

मौढ़ा बाड़ी

यह देवता का प्राचीन मंदिर है जो गांव से बाहर घने जंगल में है। लोकास्था के अनुसार यहां अपनी इच्छा से देवता प्रकट हुआ था। स्वायम्भुव ऋषि ग्वालों के साथ खेला करता था और चमत्कार दिखाता जो आखिरकार गांव में बड़े-बूढ़ों तक जा पहुंचे और फलस्वरूप मंदिर का निर्माण हुआ।

रास्ते में दो स्थानों पर रुककर बर्फ के ऊपर गूर-खेल हुई। सभी गूरों के पांवों में रस्सियों व बकरे की जटाओं से बनी पूलें थीं जो केवल नाम की ही थीं। पंजों के कुछ भाग को छोड़ शेष सारे पांव बर्फ में थे। नंगी टांगें, नंगे पांव और बर्फ पर नृत्य। वरिष्ठ गूर जिसकी वय अस्सी को छूती होगी, नृत्य कर रहा था। सफेद लम्बी जटाएं, सफेद भौंहें, सफेद चोला और सफेद बर्फ। निशान, रणसिंगे उठाने वालों ने भी पूलें ही पहनी थीं। कुछ ने रस्सियों के बने जूते से पहन रखे थे। नियत स्थान पर एक घण्टी वाला एक किनारे जाकर तीन बार घण्टी बजाता, रणसिंगा वादन के साथ पीला आटा फेंका जाता। वरिष्ठ गूर के साथ वाला गूर उस दिशा में जोर से 'होऽऽऽ!' चिल्लाता जिसके साथ ही बाजे विशिष्ट धुन में बज उठते। वरिष्ठ गूर का नृत्य आरम्भ हो जाता— संगल, कटार, छड़ी व भेखली की टहनी के साथ।

मौढ़ा बाड़ी पहुंच पहले अग्नि प्रज्वलित कर हवन हुआ। फिर गूर-खेल। सभी गूर देवता सहित नृत्य कर रहे थे। अंत में हुई तीरंदाजी! जिनके घर पुत्र हुए थे और बाल उतारे थे, उन पिताओं ने तीर चलाये। पुराना धनुष, तीर नये। मंदिर के साथ गड़ी बहुत ऊंची ध्वजा के ऊपर गोल हिस्से में निशाना लगाना था। कोई भी पिता ऊपर निशाना न लगा सका। अंतिम तीर वे ध्वजा के निचले हिस्से में ही चिपका देते। एक तीर ऊपर निशाने में पहले का गड़ा हुआ था, जो गत वर्ष का था।

सफेद बर्फ में रिसता लाल खून

मौढ़ा बाड़ी में हवन के बाद बेलियों का सिलसिला आरम्भ हुआ और छः-सात मेमने देखते-देखते ही कट गये। पहला मेमना मंदिर के पिछले द्वार के पास कटा। मेमने के तड़पते धड़ से फूटता लाल खून बर्फ में रिसने लगा। उसी समय गूर, पुरोहित तथा एक अन्य आदमी एक और मेमना मंदिर से कुछ आगे ले गये। वहां उसकी गर्दन पकड़ अलग कर दी गई और तत्काल ही उसका पेट फाड़ कलेजा निकाल दिया गया। बलि के

बाद मेमने से तीर छुआ दिये जाते। बूट पहने होने के कारण जहां मैं मंदिर के बाहर खड़ा था, एक आदमी मेमने का नन्हा-सा, गर्म-गर्म कलेजा पत्थर पर रख गया।

गूर का रक्तपान

यहां सबसे अधिक गूर हैं। अब देवता के गूरों की संख्या घट रही है। कहीं एक गूर है, कहीं एक भी नहीं। यहां नौ गूर हैं। इनमें से चार देवता के, तीन माता रेणुका के और दो जोगणी के हैं।

गूर कौन हो और कैसे बने ?—इस विषय में यहां कुछ भिन्न धारणा है। गूर बनने को आया पुरुष उभरने पर अपनी टोपी उतार फेंकता है। ऐसी दशा में उसे दो आदमी पकड़ लेते हैं और देवता के पास ले जाते हैं। देवता के सभी कर्मचारी उपस्थित हो जाते हैं और अच्छा-खासा समारोह बंध जाता है। गूर कुछ बोलता नहीं। देवता के पास एक बकरा बलि दिया जाता है और उसका खून गूर के मुंह में लगाया जाता है, तब गूर बोल उठता है। गूर बनने के बाद उसे सबको खिलाना-पिलाना होता है।

ऐसी ही परम्परा का एक प्रसंग मलाणा में गूर बनने के विषय में श्री चन्द्रशेखर जी ने सुनाया था।

मलाणावासी अपनी भेड़ें रामपुर की ओर भी ले जाते हैं। वहां एक आदमी उभर पड़ा और उसका उभरना बंद ही न हो। जब मलाणियों ने समझ लिया कि यह गूर बनने जा रहा है तो दो आदमी उसे पकड़े हुए वहां से पैदल मलाण देवता के पास ले चले। ये तीनों श्री चन्द्रशेखर जी को जलोड़ी जोत के पास मिले। उन्होंने बताया कि ये गूर निकल रहा है और जब से इसे देवता आया है, कुछ खा-पी नहीं रहा। अब इसे देवता के पास ले जा रहे हैं।

दरपोइण में वरिष्ठ गूर का पद वंशज है। केवल दो खानदानों से ही वरिष्ठ गूर बन सकता है, अन्य परिवार से नहीं। यद्यपि वरिष्ठ गूर की मृत्यु के बाद तथा नया वरिष्ठ गूर बनने तक उससे कनिष्ठ गूर कार्यभार संभालता है।

गूर-खेल व बर्शोहा

मौढ़ा बाड़ी से वापसी पर काफिला दरपोइण की 'सौह' में आ गया। यहां आकर भी जोगणी के मंदिर की ओर तथा अन्य तीन दिशाओं में तीन बार घण्टी बजने के साथ गूर का 'होऽऽऽ···' उद्घोष हुआ और बाजे बजे। प्रांगण में पूरी गूर-खेल हुई। वरिष्ठ गूर ने सबको नचाया। श्रद्धालुओं ने भेंटें चढ़ाईं, मेमने कटे। आज कोई बड़ा बकरा या भेड़ा नहीं काटा गया, बस नरम बर्फ की तरह मेमने ही गोद में उठा रखे थे लोगों ने।

यहां भी बर्फ बिखरी थी। नृत्य के समय गूरों के पांवों में बर्फ की तहें की तहें जमी जा रही थीं। बर्शोहा या देवगाथा व भविष्यवाणी के लिए बाहर बर्फ में बैठना सम्भव न था। गूरों को बर्फ पर नाचते दो घण्टे से ऊपर समय हो गया था। अब देवता

की अनुमति चाहिए थी कि क्यों न बर्शोहा अंदर ही किया जाये ! हरिजनों ने चाहा था कि यह प्रक्रिया बाहर ही हो ताकि देवता की वाणी वे भी सुन सकें।

हरिजनों के बैठने का स्थान अलग बना होता है। हर देवता की सौह के साथ देवता के बैठने की सरायनुमा जगह से कुछ दूरी पर हरिजनों के बैठने की व्यवस्था की होती है। उन्हें उस स्थान पर आना भी मना है जहां गूर आदि बैठते हैं तथा रथ रखा जाता है। हरिजन गूर भी अलग से नाचते हैं। देवता की आज्ञा हुई थी कि गूर बाहर ही बैठें ताकि वे लोग भी सुन सकें। बहुत अनुनय-विनय के बाद गूरों ने देवता को अंदर बैठने पर मजबूर कर दिया।

अंदर एक ऊंचे तख्तपोश पर देवता का बड़ा रथ रख दिया। एक अन्य ऊंचे मंदिरनुमा स्थान में पुराना रथ। इस रथ के आगे तीन सुंदर घोड़े भी रखे हुए थे।

दूसरे कमरे में रसोई का प्रबन्ध हो रहा था। ढेरों मक्की की रोटियां पकाकर देवता वाले कमरे के एक कोने में चिनी जा रही थीं। शाम को दो-दो मक्की की रोटियां सबको प्रसाद के रूप में मिलनी थीं। बीच बरामदे में मेमनों की खालें खींची जा रही थीं।

कुछ देर आग तापने के बाद गूर पंक्ति में बैठ गये। हाथों में थालियां लिए जिनमें थोड़े-थोड़े चावल डाल दिए गये।

सबसे पहले वरिष्ठ गूर ने कथा आरम्भ की। उसने देवता की यात्रा-कथा का बखान किया कि वह कहां से आया, कहां ठहरा आदि। वहां बैठे सभी ग्रामीण अपनी बातों में मग्न थे। वे उतनी उत्सुकता या श्रद्धा से यह सब नहीं सुन रहे थे, यद्यपि एक व्यक्ति की हांक से वे अब चुप बैठ गये थे। अब दो गूर घुटनों के बल बैठ बोलने लगे। यह सारा इतिहास एक कविता के रूप में लय से बोला जा रहा था। इसके बाद पुनः वरिष्ठ गूर ने आगामी वर्ष के बारे में भविष्यवाणी आरम्भ कर दी—वर्षा, बीमारी, महंगाई आदि के बारे में। कलियुग के कारनामों की भर्त्सना की जिससे अब अनिष्ट हो रहे हैं। गूर ने वादी के अन्य देवताओं—भेखली माता, दयार के त्रिजुगी नारायण, ढालपुर के देउ आदि की भी चर्चा की।

यह इतिहास पौराणिक तथा देशज घटनाओं का सम्मिश्रण होता है। जैसे कृष्ण के इतिहास में कृष्ण-लीला के कुछ उपाख्यान होंगे और कृष्ण के वादी में आने के किस्से, राक्षसों से युद्ध व अपने पराक्रम दिखाने की घटनाएं। यह इतिहास एक काव्य के रूप में बोला जाता है।

इसके बाद लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के हल जानने के लिए पुच्छ लेने लगे थे।

कुल्लू में होली के रंग

वैसे तो हिमाचल प्रदेश में सभी जगह होली का त्यौहार धूमधाम से मनाया जाता है, परन्तु कुल्लू में होली का अपना ही सांस्कृतिक महत्त्व है। यहां की होली में अवध व कुल्लू, दोनों संस्कृतियों के रंग रचे-बसे हैं।

कुल्लू में वैष्णव मत

कुल्लू की होली का इतिहास यहां की धरती में वैष्णव मत के प्रादुर्भाव से जोड़ा जा सकता है। रघुनाथजी की मूर्ति के अवध से आगमन के साथ ही यहां वैष्णव प्रभावी हुए। अवध से वैरागी साधु समय-समय पर यहां आने लगे जिनको राजदरबार की ओर से उचित मान-सम्मान दिया जाता। वैष्णवी प्रभाव राजा जगतसिंह के समय सत्रहवीं शताब्दी में पड़ा।

लठैत वैरागी

किंवदन्ती है कि एक समय कुल्लू के राजा को यहां के खश व कनैतों ने लगान देना बंद कर दिया। तत्कालीन राजा टेढ़ीसिंह को ये लोग किन्हीं कारणों से नहीं चाहते थे। राजा ने अवध से वैरागियों से राज्य की रक्षा के लिए सहायता मांगी। रघुनाथजी की गद्दी बचाने के लिए वैरागी साधु आये, जो लठैत थे। इनकी संख्या दो सौ से बारह सौ तक बताई जाती है। यहां इन्हें चार चौकियों में ठहराया गया। एक चौकी ढालपुर में बनी, तीन अखाड़े में। इनके खान-पान की व्यवस्था राजा द्वारा की जाती। ये लोग लाठी लिए प्रजा को सीधे रास्ते पर लाने लगे।

यदि उक्त घटना को सही मान लिया जाये तो इस तरह वैरागियों का कुल्लू में आगमन अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ।

लठैतों से फगुआ तक

धीरे-धीरे ये वैरागी जहां-तहां बस गये और कुल्लूई संस्कृति में घुलमिल गये। ये लोग अवधी अंदाज में होलियां गाते थे। डफली और झांझ लिए ये घर-घर जाते और 'फगुआ' मांगते। इस प्रकार का कार्यक्रम होलाष्टकों से आरम्भ हो जाता। इस प्रकार

होलियां गाने की परम्परा आज से कुछ वर्ष पूर्व तक बनी रही। इन लोगों ने अवध की संस्कृति के रंग यहां की संस्कृति में घोल दिये। इनकी अपनी एक बहुत बड़ी पंचायत भी हुआ करती थी।

गेय होली

इस समय भी कुल्लू में होलियां गाने की प्रथा है। घर-घर ये होलियां गाई जाती हैं। एक घर में आसपास के स्त्री-पुरुष इकट्ठे हो जाते हैं और महफिल जम जाती है। रात के समय इस महफिल में समां बंध जाता है। ये होली गीत अनेकों हैं। गीत कुल्लूई में न होकर हिन्दी या अवधी में हैं। वैरागियों व स्थानीय लोगों के होली गीत बोल व तर्ज, दोनों में भिन्नता लिए हुए हैं। इस प्रकार की होलियों का गायन वसंत से ही आरम्भ हो जाता है।

मतवालों की टोलियां

होली के त्यौहार में राजदरबार की ओर से विशेष रुचि होने के कारण इसका रूप विकसित होता गया। इस समय भी ढालपुर, सुलतानपुर, अखाड़ा से निकली टोलियां अपने-अपने झंडे लिए घर-घर जाती हैं। सब दल राजमहल में भी जाते हैं जहां हल्दी व मक्की के आटे से विभिन्न रंगों का गुलाल बनाया होता है। पीतल की पिचकारियां विशेष रूप से बाहर से मंगवाई जाती हैं। यहां से राजा को आगे कर यह समूह आगे बढ़ता है। घरों में औरतें ऊपरी मंजिल से पानी डालती हैं। पुरुष नीचे से पिचकारियां छोड़ते हैं।

इन टोलियों में वैरागियों की डफ व झांझों से झंकृत टोली, जुलाहों, झीरों की दमलुओं की दम-दम से उत्साहित टोली अपना अलग वैशिष्ट्य रखती थीं।

होली खेलने का यह रिवाज केवल शहरी क्षेत्र में ही है। गांव में होली नहीं खेली जाती।

अंतिम समारोह

सब ओर उछल-कूद मचाकर यह दल पुनः राजमहल में आ जाता है। शाम के समय राजमहल में झाड़ियों व कांटों के ढेर इकट्ठे किये होते हैं। रघुनाथजी की सवारी छोटी पालकी में मंदिर से लाई जाती है। झाड़ियों के पास पूजन के बाद आग फूंक दी जाती है। रघुनाथजी, महल के ठाकुरजी, राजा तथा राजपरिवार के अन्य सदस्य इसकी परिक्रमा करते हैं।

अंत में होती है झंडे की लड़ाई। झंडा आग लगी झाड़ियों के बीच गाड़ा होता है। इसे एक ओर से वैरागी खींचते हैं तो दूसरी ओर से छलालू (एक गांव के वासी)। यदि वैरागी जीत जाएं तो राजा की जीत समझी जाती है और छलालू जीत जाएं

तो रानी की। एक दल झंडे को महल की ओर खींचना चाहता है तो दूसरा बाहर की ओर। इन झाड़ियों की राख लोग अपने घरों को ले जाते हैं।

इस सारी प्रक्रिया के दौरान जहां-तहां डफ और झांझ लिए लोग होलियां गाते रहते हैं।

अब इस होली की बहुत-सी परम्पराएं समाप्त हो गई हैं, या बदल गई हैं। हां, होली का गायन अभी भी रात्रि की नीरवता में सात सुर फैलाता है।

पीपल जातर

पीपल जातर—जैसाकि नाम से ही विदित होता है, पीपल-पूजन का त्यौहार है। पीपल-पूजा के रूप में वनस्पति वंदना की एक पुरातन आस्था रही है हमारी संस्कृति की। पीपल में विष्णु का वास भी माना जाता है, इस दृष्टि से कुल्लू की वैष्णवी संस्कृति से यह उत्सव जुड़ा हुआ है। यह उत्सव कुल्लू में 16 वैशाख (अप्रैल के अंतिम दिनों) में मनाया जाता है।

राय री जाच

इस उत्सव का पुराना नाम 'राय री जाच' भी है। राय री जाच यानी राजा का मेला या राजा की जातर। पहले यह उत्सव कुल्लू के ढालपुर मैदान में एक स्थान पर मनाया जाता था, जहां एक पीपल का पेड़ व चबूतरा था। अब यहां सपाट मैदान है। चबूतरा लोगों ने देखा है। वहां आयोजित उत्सव भी देखा है। पीपल का पूजनीय पेड़ बुजुर्गों ने नहीं देखा। किसी समय यहां पीपल का पेड़ अवश्य रहा होगा। इस स्थान के नीचे, जहां मैदान समाप्त होता है, अब भी एक लहलहाता हुआ पीपल का पेड़ खड़ा है जो अपने सजातीय पूर्वज—जो पूजनीय था—के होने की पुष्टि करता है। इस पीपल के चारों ओर भी चबूतरा है।

जागरा या जागरण

कहा जाता है, उत्सव के पहले दिन दो प्रमुख देवता आते थे—बिजली महादेव तथा खोखण से आदि ब्रह्मा। आदि ब्रह्मा का रथ ढालपुर मैदान में ही डेरा जमाता। दूसरे देवता इधर-उधर ठहरते। बिजली महादेव के साथ जुआणु महादेव तथा भागा-सिद्धि भी होते। शाम व रात को इन देवताओं के गूर चबूतरे के पास आ जाते। रात को 'देउखेल' होती। देवताओं के गूर संगल, कटारों आदि से खेलते जिसे 'लोहा खेलणा' भी कहा जाता है। राजा की ओर से एक छेली दी जाती जिसे वहां बलि चढ़ाया जाता। बलि का आधा भाग बिजली महादेव तथा अन्य देवताओं को मिलता, आधा आदि ब्रह्मा को।

राजा की सवारी

दूसरे दिन के उत्सव में जरी से लेकर सोलह देवता भाग लेने आते थे। कुछ वर्ष

पूर्व के उत्सवों में बुजुर्गों ने आठ-दस तक देवता आते देखे हैं। जे० कैलवर्ट ने भी अपनी पुस्तक 'द सिलवर कण्ट्री' में ढालपुर के मैदान में लगने वाले दो उत्सवों का उल्लेख किया है जिसमें वादी के देवता सम्मिलित होते थे। कुल्लू दशहरा के अलावा यह दूसरा उत्सव निश्चित रूप से पीपल जातर था।

देवता राजमहल में जाते, जहां से दोपहर बाद राजा की सवारी सुखपाल में निकलती। राजा के साथ अन्य देवताओं के अतिरिक्त बिजली महादेव का बाजा चलता। चबूतरे के पास शामियाना लग जाता और राजा व देवता वहां आ विराजते। फिर चलता देवताओं और मनुष्यों का नाच-गाना। आदि ब्रह्मा वाले एक ओर नाचते, बिजली महादेव व अन्य दूसरी ओर।

वसंतोत्सव

अब न तो ढालपुर मैदान में पीपल का पेड़ है, न चबूतरा। न राजा की सवारी आती है, न देवताओं के रथ। अब यह उत्सव राय री जाच या पीपल जातर न होकर 'वसंतोत्सव' या 'स्प्रिंग फैस्टीवेल' के नाम से जाना जाता है। प्रायः तीन दिवसीय आयोजन जिला प्रशासन की ओर से किया जाता है जिसमें हिमाचल कला-भाषा-संस्कृति अकादमी व हिमाचल भाषा विभाग का भी योगदान रहता है। इस आयोजन में दिन में तो पारम्परिक मेला लगता है और रात्रि को कला-केन्द्र में सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं जिनमें स्थानीय लोक-नृत्य व कार्यक्रम के अलावा अन्य प्रदेशों से सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आमन्त्रित किये जाते हैं।

पायलों की झंकार में डूबा दशहरा कुल्लू का

लम्बे-ऊंचे, भरे-पूरे देवदारुओं से आच्छादित शिखर। हिमस्खलित निर्झर। मदमस्त वादियां। हरी घाटियां। बत्तखों-सी सरसराती घटाएं। नादों से गूंजती उपत्यकाएं। नाच-गाना, खेल-तमाशा। झरझराती व्यास और किनारे बसा कुल्लू।

एक ओर बिजली महादेव का शिखर। दूसरी ओर दरपोइण—जमदग्नि का स्थल। ऊपर, सामने भेखली मैया तो नीचे पहाड़ियों की नैया। बीच घाटी में है ढालपुर मैदान। अक्तूबर में सभी शिखर, निर्झर, घाटियां, वादियां गूंज उठती हैं शहनाई, ढोल, रणसिंगों की मधुर गूंज से। यूं तो देवताओं से सजे रथ बाजे-गाजे सहित यत्र-तत्र झूमते पहाड़ियों से उतरते दिखते रहते हैं परन्तु वादी के देवताओं के सामूहिक उत्सव 'विजय दसमी' के अपने ही रंग हैं, अपने ही ढंग हैं।

ढालपुर मैदान

कुल्लू व्यास के दाएं किनारे पर बसा है जिसमें सुलतानपुर, अखाड़ा बाजार तथा ढालपुर मैदान—तीन प्रमुख आकर्षण हैं। सुलतानपुर राजधानी रहा है, अतः यहां अब भी राजमहल है। रघुनाथजी का मंदिर भी यहीं है। अखाड़ा बाजार प्रमुख बाजार है। ऐसा कहा जाता है कि यहां अवध से आकर साधु ठहराए जाते थे, इसलिए अखाड़ा कहलाता है। ढालपुर मैदान कुल्लू की पहाड़ियों के बीच एक ऐसा स्थल है जो दूर-दूर की चोटियों से दिखता है। यह मैदान सबकी संयुक्त स्थली है। ऐसा कहा जाता है कि इस मैदान का नाम राजा बहादुरसिंह ने सोलहवीं शताब्दी के मध्य में अपने भाई मियां ढालसिंह के नाम पर किया।

मैदान को 'ठारा करड़ू री सौह' कहते हैं। करड़ू का अर्थ टोकरी से लिया जाता है। ऐसा सम्भव है कि पहले सभी देवताओं को एक टोकरी में रखा जाता था, जिसे करड़ू कहा जाता है। देवताओं की उद्‌गम कथा में भी महर्षि जमदग्नि देवताओं को एक टोकरी पर उठाए किन्नर कैलाश की ओर से आए थे। देवताओं के रथ बाद में बने, यह निश्चित है। अब भी कुछ ऐसे देवता हैं जो एक टोकरी में विद्यमान रहते हैं और उन्हें एक आदमी सिर पर उठाता है। कुछ देवताओं के ऐसे पुराने करड़ू भी हैं और नए रथ भी हैं जो विशेष रूप से कुल्लू-दशहरे में जाने के लिए ही बनाए गए हैं।

'ठारा करड़ू' का अर्थ अट्ठारह करोड़ से भी लिया जाता है। अट्ठारह करड़ू या
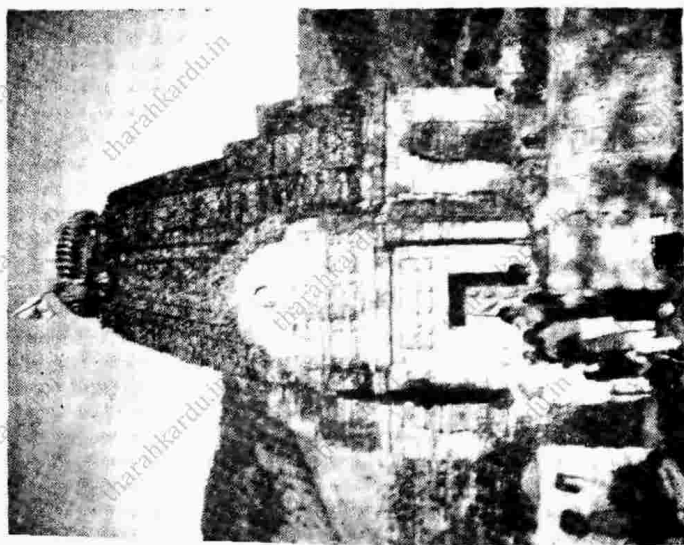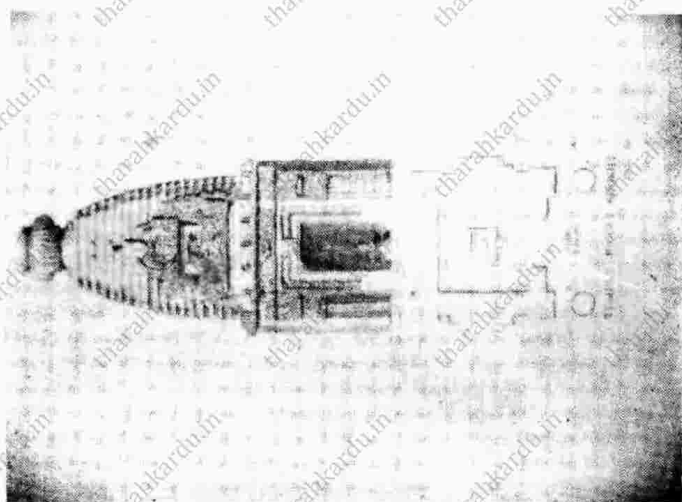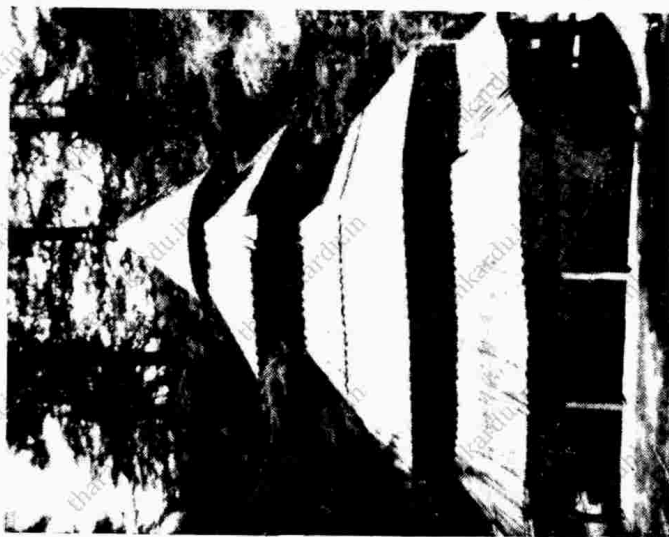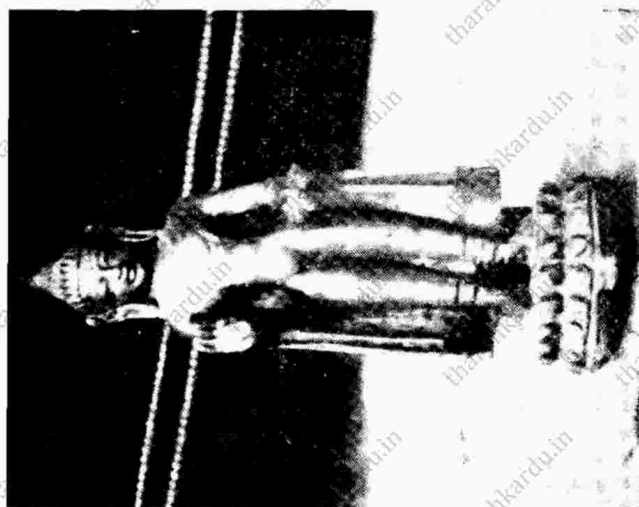
अट्ठारह करोड़ देवता या अनेकों देवता। दशहरे में आने वाले देवताओं की संख्या तीन सौ साठ या तीन सौ पैंसठ मानी जाती है। बुजुर्गों ने दशहरे में दो सौ तक देवता आते देखे हैं। अब भी साठ-सत्तर से ऊपर देवता आते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि राजाओं के समय में देवताओं को ढालपुर मैदान में अवश्य हाजिरी देनी होती थी।

'सौह' कहते हैं प्रांगण को। देवता का प्रांगण जहां देवता का रथ सज-धजकर विराजता है। धार्मिक कृत्य होते हैं, नृत्य होते हैं। देवता नाचता है। गूर नाचते हैं। प्रजा नाचती है। हर देवता की गांव में मन्दिर के समीप अपनी-अपनी सौह होती है। ढालपुर मैदान को 'ठारा करड़ू री सौह' माना है अर्थात् सब देवताओं की संयुक्त स्थली। एक ऐसी जगह जहां वादी के सभी देवताओं व मनुष्यों का समागम होता है। सबका इस पर समान रूप से अधिकार है। सभी देवता अपनी-अपनी निश्चित जगह पर बैठते हैं। नाचते हैं, गाते हैं और धार्मिक कृत्य करते हैं। कुल्लू के जनमानस में इस मैदान के प्रति अथाह श्रद्धा है। ग्रामीण ढालपुर आने पर मैदान की मिट्टी को पवित्र समझ साथ ले जाते हैं।

अनोखे देवता : अजब तमाशे

एक समय था जब दशहरे में तीन सौ साठ के लगभग देवता एकत्रित होते थे। देवशिरोमणि रघुनाथजी के दरबार में झूमता-गाता हुआ देवसमूह जब एकत्रित होता है तो समां बंध जाता है। रंग-बिरंगे रथ, चांदी-पीतल के साज, रंगीन व ऊंचे झंडे, देवताओं के निशान, छत्र-चंवर, वृद्ध पुजारी, कुशल कारदार, लम्बे बालों वाले ऋषि-तुल्य धीर-गम्भीर गूर।

बहुत अजीब हैं इन देवताओं की हरकतें। कोई भागता है, कोई खड़ा होता है। कोई चलता है, कोई बैठता है। कोई नाचता है, कोई टक्कर मारता है। कोई गले मिलता है, कोई दूर भागता है। कोई रूठता है, कोई मनाता है। देवी-देवता, ऋषि, नाग, सिद्ध—कोई देवता किसी का भाई है तो किसी की बहन। कोई बड़ा है तो कोई छोटा। कोई गुरु है तो कोई चेला। बिजली महादेव, भागा सिद्धि, नाग धूमल, ऋष्य शृंग आदि ब्रह्मा, नारायण, वीर नाथ, पंचबीर आदि अनेकों देवता अपने-अपने झंडे, निशान, बाजों सहित सज-धजकर निकलते हैं।

दशहरे का प्रारम्भ

कुल्लू में विजयदशमी का उत्सव तब आरम्भ होता है जब देश के अन्य भागों में रावण का बुत जल चुका होता है। उत्सव आश्विन शुक्ल दसवीं से आरम्भ होकर एक सप्ताह बाद पूर्णिमा को समाप्त होता है।

दशहरे के इस प्रकार शुरू होने के विषय में इस उत्सव को राम की शक्ति-पूजा से जोड़ा जाता है। शक्ति के वर से ही राम रावण को परास्त कर पाए। ऐसा भी कहा जाता है कि यह उत्सव पूर्णतया शास्त्रीय पद्धति से तथा कर्मकाण्ड की विधि से होता है।

उसी शास्त्रीय विधि के अनुरूप दशहरा इन्हीं दिनों में मनाया जाना अपेक्षित है।

उज्ज्वल अतीत

कुल्लू दशहरा के बाद में प्रारम्भ होने के विषय में यह भी मत है कि इसके पीछे आर्थिक कारण रहा है। व्यापारिक दृष्टि से यह आयोजन तब आरम्भ होता है जब देश के निचले भागों में समाप्त हो जाता है ताकि वहां से व्यापारी आसानी से इस मेले में सम्मिलित हो सकें।

ऐसा भी विश्वास है कि राजा मानसिंह ने इस उत्सव को व्यापारिक रंग दिया। सत्रहवीं शताब्दी से ही यहां व्यापारी आने प्रारम्भ हो गए। उस समय भी यह मेला अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का रहा है। उस समय व्यापारी पर्वतों को लांघ रूस, चीन, तिब्बत, समरकंद, यारकंद, लद्दाख, लाहुल स्पिति से आते थे। वे घोड़े तथा पशम आदि का व्यापार करते थे। घुड़-दौड़ में प्रथम आने वाले घोड़े ऊंचे दामों पर बिकते। यह घुड़-दौड़ कुछ समय पहले तक इस उत्सव में होती रही।

राजाश्रय पाने के कारण इस उत्सव में नए-नए आयाम जुड़ते गए। राजाओं के समय में पूरा उत्सव राजा की ओर से होता था। अंग्रेजों के शासन के दौरान भी यह उत्सव राजाश्रय से चलता रहा। एक ओर सामने राजा रूपी का कैम्प लगता था तो दूसरी ओर वर्तमान कला-केन्द्र के पास राजा शांगरी का। दोनों कैम्पों में अपने-अपने ढंग से नाच-गाना, खान-पान चलता रहता था।

सत्रहवीं शताब्दी : राजा जगतसिंह (1637-1662) का समय

देवों में शिरोमणि रघुनाथजी के आगमन से पूर्व कुल्लू में शैव-संस्कृति का प्राधान्य था। शैव-सम्प्रदाय में भी नाथ ही राजाओं के गुरु थे। इन नाथों की मुद्राओं की पूजा होती थी। मुद्रा-दर्शन के बिना राजा भोजन नहीं कर सकते थे।

सत्रहवीं शताब्दी में एकाएक परिवर्तन हुआ।

उस समय की कथा वादी में अपने-अपने ढंग से बखानी जाती है।

पार्वती घाटी में (मणीकर्ण की ओर) टिपरी मड़ोली गांव। गांव के एक ब्राह्मण दुर्गादत्त की उसके जाति भाइयों ने राजा से चुगली कर दी कि उसके पास एक पथा (लगभग एक किलो) सुच्चे मोती हैं। किसी ने इतना तक कह दिया : "उसने तो आंगन में सूखने डाले थे महाराज ! मैंने अपनी आंखों देखा।"

मोती ! राजा चौंका। मोती तो राज्यलक्ष्मी है। मोतियों का ब्राह्मण के घर क्या काम ?

एक बार राजा मणीकर्ण की ओर जा रहा था तो उसने ब्राह्मण के घर मोती लाने के लिए आदमी भेजे। राजपुरुषों ने ब्राह्मण से मोती निकलवाने चाहे। मोती तो थे नहीं। कंगाल ब्राह्मण कैसे विश्वास दिलाता कि चुगली झूठी है। अन्त में अपना पीछा छुड़ाने के लिए कह दिया कि जब राजा वापस लौटेगा, मोती मिल जाएंगे।

राजा के लौटने का समय भी आ गया। ब्राह्मण घबराया। अब क्या हो? आखिर उसने हल ढूंढ़ लिया। अपने बच्चों, परिवार को घर में बंद कर दिया। बाहर से आग दिखा दी। लपटें उठीं। घर-परिवार धधकने लगा। वह हाथ में छुरी लिए बैठा था। राजा के आदमी आए तो देखा—वह अपना मांस काट-काट कर आग में डाल रहा है और कहता जा रहा है : "ले राजा, तेरे पथा मोती ! ले राजा, तेरे पथा मोती !"

ब्राह्मण स्वाहा हो गया। राजा खाली हाथ राजधानी मकड़ाहर लौट आया।

महलों में पहुंच राजा भात खाने लगा तो उसमें कीड़े दिखने लगे। पानी पीने लगा तो लहू नजर आने लगा। राजा को ब्रह्म-हत्या लग गई। ब्रह्म-हत्या से कैसे छुटकारा मिले ? अनेकों उपाय किए गए। गुरु हार गए। कोई फायदा नहीं हो सका।

उस समय नग्गर में बाबा किशनदास पौहारी रहता था (बाबा की गुफा अब भी नग्गर में विद्यमान है)। पौहारी बाबा की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैली हुई थी। आखिर राजा ने उससे प्रार्थना की और छुटकारे का उपाय बताने को कहा। बाबा ने उपाय बताया : "यदि राजा वैष्णव हो जाए और अयोध्या से रघुनाथजी की मूर्ति लाकर यहां स्थापित करे; सारा राज्य रघुनाथजी को सौंपे और स्वयं छड़ी-बरदार (मुख्य सेवक) बनकर रहे तभी पाप का प्रायश्चित्त हो सकता है।"

रघुनाथजी की मूर्ति कैसे लाई जाए ? यह समस्या थी। बाबा ने सुझाया कि उनका चेला दामोदर सुकेत के राजा के पास रहता है। वही मूर्ति ला सकता है। राजा ने संदेश भेज दामोदर को बुलवाया। गुरु पौहारी ने भी पत्र भेजा। दामोदर गुरु के समक्ष उपस्थित हुआ और अयोध्या से मूर्ति लाने का कार्य स्वीकारा। राजा की ओर से उसे खर्च मिला व सहायक मिले। कुल्लू से अवध तक राजा ने बीस-बीस कोस पर हरकारे तैनात करवाए।

दामोदर गुसाईं अवध जा पहुंचा। वहां वह पुजारी का चेला बन गया और नित्यप्रति मन्दिर जाने लगा। पुजारियों का विश्वास जीतकर और एक दिन मौका पाकर वह मूर्ति को ले भागा। जब पुजारियों को इस बात की खबर हुई तो वे भी भागदौड़ करने लगे। उनमें से एक पुजारी जोधबीर हरिद्वार आ पहुंचा और दामोदर को घर दबोचा। दामोदर ने मिन्नत की कि मूर्ति कुल्लू के राजा जगतसिंह ने मंगवाई है। जोधबीर ने तर्क दिया कि इसी मूर्ति से तो उनका पेट भरता था। अब वे क्या करेंगे ! दामोदर ने आश्वासन दिया कि जो आमदनी उन्हें मन्दिर से होती थी, वह राजा कुल्लू से मिला करेगी। दामोदर ने राजा को कहला भेजा कि पुजारी मूर्ति को आगे नहीं लाने देते। राजा ने उन्हें रकम देने का विश्वास दिलाया, तब पुजारियों ने मूर्ति कुल्लू लाने दी।

यह भी कहा जाता है कि वह पुजारी 'गुटका सिद्धि' जानता था जिसके कारण दामोदर को पकड़ पाया। दूसरे यह लोकास्था है कि हरिद्वार में जब पुजारियों की आपस में खींचातानी हुई तो जब मूर्ति कुल्लू की ओर खींची जाती, यह हलकी हो जाती और जब अवध की ओर खींची जाती तो भारी हो जाती। अर्थात् मूर्ति स्वयं कुल्लू की ओर

आना चाहती थी।

अंततः रघुनाथजी राजधानी मकड़ाहर पहुंचे। राजा उनके दर्शनों से कृतकृत्य हुआ। उसने राज्य रघुनाथजी को सौंप दिया और स्वयं उनका छड़ी-बरदार या मुख्य सेवक बना। यज्ञ किया गया। दामोदर को मुन्तर में भूमि व ठाकुरद्वारा बख्शा। कोठी जगतसुख की आय ठाकुरद्वारे के नाम कर दी गई। अवध में पुजारियों को ताम्रपत्र दिया और प्रतिवर्ष राशि दी जाने लगी। दामोदर गुसाईं के वंशज अभी भी मुन्तर में रहते हैं।

राजा रोगमुक्त हुआ। बाबा किशनदास राजगुरु बना। नाथ गुरु तारानाथ अपनी मुद्राओं सहित पलायन हो गए। प्रजा में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ और दशहरे का प्रादुर्भाव हुआ।

वैष्णव धर्म व उत्सव

दशहरे के साथ-साथ जल-विहार, वन-विहार, वसंत पंचमी व होली के त्यौहार अवधी रंगों में रंग गए और आरम्भ हुआ कुल्लू व अवध के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान। कुल्लू के लोग अवध जाने लगे। अवध से वैरागी यहां आकर बसने लगे। इनका एक दल अखाड़े में बसा जिससे उसका नाम 'अखाड़ा' पड़ा। कुछ वैरागी बाद में राजा टेढ़ीसिंह के समय में आए। कहा जाता है, यहां के खश लोगों ने राजा के विरुद्ध बगावत कर दी थी जिसे दबाने के लिए अवध से वैरागी मंगवाए। ये लोग लठैत भी थे। ये कुल्लू व इसके आसपास तथा समीपस्थ ग्रामों में बसने लगे और समय के अनन्तर यहां की प्रजा से सांस्कृतिक रूप से घुलमिल गए। इनके वंशज आज भी कुल्लू की विभिन्न राजधानियों से सम्बद्ध स्थानों में बसे हुए हैं।

दशहरे के साथ जल-विहार आदि त्यौहार अब राजसी शान-बान से मनाए जाने लगे। रघुनाथजी समस्त देवताओं के शिरोमणि हुए।

यह भी मान्यता है कि कुछ दिन रघुनाथजी की मूर्ति मणीकर्ण में रखी गई। वहीं से सुलतानपुर में लाई गई। इस लोकास्था का प्रमाण मणीकर्ण में (जो शिव-पार्वती को समर्पित स्थान है), भव्य रघुनाथ मन्दिरों का निर्माण है। मणीकर्ण में भी ढालपुर मैदान की भांति एक छोटा-सा रथ खड़ा रहता है और वहां भी दशहरा मनाया जाता है, रथ-यात्रा होती है।

मूर्तियां श्रीराम ने बनवाईं

कथा में प्रमुखतः एक ही मूर्ति (रघुनाथजी की) का उल्लेख है। वास्तव में इस समय चार मूर्तियां हैं—रघुनाथजी, सीताजी, हनुमानजी और नृसिंहजी। ये चारों ही अवध से लाई बताई जाती हैं। नृसिंहजी वाला पत्थर एक कथा के अनुसार बाबा किशनदास ने राजा जगतसिंह को दिया था।

अवध में मन्दिर का खाली हो जाना और वहां के पुजारियों की जीविका पर चोट इस बात का प्रमाण है कि दामोदर उस मन्दिर से सारी मूर्तियां उठा लाया। ये

मूर्तियां रघुनाथजी, सीताजी, हनुमानजी और नृसिंहजी की थीं। राम-सीता तथा हनुमान के अलावा नृसिंहजी की मूर्ति (?) भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि दशहरे में हर रोज नृसिंहजी की घोड़ी राजा की पालकी के साथ मेले का चक्कर लगाती है।

रघुनाथजी की मूर्ति के विषय में लोकास्था है कि यज्ञ के समय जब अर्द्धांगिनी के रूप में सीताजी की उपस्थिति का प्रश्न उठा तो सीता की जगह इनकी मूर्ति प्रतिष्ठित कर यज्ञ का कार्य निकाल लिया गया। मूर्ति को अप्रयोज्य समझ किनारे रख दिया। सीताजी पहले ही खिन्न थीं। अब और दुखी हुई। उन्होंने स्वप्न में श्रीराम को कहा, "लोक-मर्यादा के कारण आपने मुझे त्याग दिया। मैं विरह सहती रही। अब मेरी मूर्ति को भी त्याग दिया। दो-दो स्थानों पर विरह सहना मेरे लिए सम्भव नहीं है प्रभु!"

अब श्रीराम ने अपनी एक मूर्ति बनवाकर सीताजी के साथ प्रतिष्ठित कर दी। यह वही मूर्ति है जो श्रीराम ने स्वयं बनवाई।

विजयदशमी—विजय का उत्सव

राजा रूपी बताते हैं, इस उत्सव को 'दशहरा' नहीं कहा जाता बल्कि दशमी कहा जाता है। विजयदशमी वास्तव में क्षत्रियों का उत्सव है। विजय का उत्सव है।

राजाओं के समय में यहां सर्वप्रथम शस्त्र-पूजा होती थी। फिर घुड़-पूजन अर्थात् घोड़े का पूजन। सेना पूजी जाती थी और इसी दिन सेना को नई वर्दियां आदि दी जाती थीं। अब भी यह कार्य प्रतीकात्मक रूप से निभाया जाता है।

राजा रूपी श्री महेन्द्रसिंह ने बताया कि दशहरे का उत्सव नवरात्रों से ही प्रारम्भ हो जाता है। नवरात्रों में हवन-पाठ किया जाता है। अष्टमी के दिन यह पूजन तारा काली के समक्ष किया जाता है। दशमी के दिन भी पूजा-कार्य चलता है और रघुनाथजी के निशानों पर अष्टगंधा से राम नाम लिखा जाता है। समस्त पूजा-अर्चना, देवता का आह्वान शास्त्रीय पद्धति से ही होता है।

पहले नवरात्रों में पालंगी से दुर्वासा ऋषि, नीणु से नारद, खोखण से आदि ब्रह्मा तथा ढालपुर मैदान के देवता भी आया करते थे।

कैलवर्ट ने पृ० सं० सत्ताइस पर ढालपुर मैदान में होने वाले मेलों पर उल्लेख किया है जिसमें कुल्लू के विभिन्न हिस्सों से 'डेविल-गाड्ज' आते थे; अपने बाजे-गाजों के साथ, जिनमें से कुछ शुद्ध चांदी के बने होते हैं। ये मैदान में तीन दिन के मेले में आते हैं। इनकी संख्या सौ से ऊपर बताई गई है। एक-दूसरे से मिलने के बाद ये मैदान में विभिन्न स्थानों में बैठ जाते हैं। दूसरा मेला पीपल जातर था, यह निश्चित है।

हारकोट ने पृ० सं० 95 में सुलतानपुर में अक्तूबर में दशहरा मेले का वर्णन किया है। इसे उन्होंने धार्मिक अधिक और व्यापारिक कम बताया है। इस मेले में बूट, ताम्बे-पीतल के बर्तन तथा ऐसी वस्तुएं जो कुल्लू में नहीं बनतीं, बेचने के लिए रखी जाती हैं। पुराने समय में इस मेले में 360 देवता रघुनाथजी के पास आते थे। अब सत्तर-अस्सी ही आते हैं।

हारकोट के समय भी यह एक सप्ताह तक चलता था। उन्होंने रथ-यात्रा, रथ-यात्रा की अन्तिम दिन वापसी तथा दरिया के किनारे लंका-दहन व बकरे या भेड़े की बलि का उल्लेख किया है।

राजा जगतसिंह और टिपरी के ब्राह्मण की कथा, एक ऐतिहासिक पाण्डुलिपि में, जो राजा ज्ञानसिंह के समय तक की है, यूं बताई गई है—

"फेरी टीपरी दा ब्राह्मण दुरगादत दे सरीके राजे पास तुह्मत करी जे दुरगादत के पास मोति पथा है फेर राजे ने आदमी भेजे जो मोति देयो से दुरगादत ने कहा ने हमारे पास मोति है नहीं फेर आदमी राजे के पास हट आया फेरे राजा मनीकरण की आया। ब्राह्मण को फेर आदमी भेजे, जे मोति को तुम देंगे आप टिपरी के साम्हणे सरसाड़ी नाए जगा हे उहा अटका रेहा तब दुरगादत ने आदमी भेजे जो आपने मनीकरण से हट आउगे तब मोती को हम दे देवेगें। जब राजा मनीकरण से हट आया टिपरी के साम्हणे राजा पोहुंचेया तब उसने कटुंब के साथ आग लाई के भर गैया। जब राजा मकड़ाहर में पोहुंचेया तब भत खाणे में राजा बेठा जेसा सुके जे कीडु मलूम होए, होर जल में रकत मुझे मलुम होए तब राजा ने बड़ी तकलीफ पाई। तब सुणने में आई जे सुखेत में ब्राह्मण मुने एता बड़ा करामाती वाले हे। फेर उसको आदमी भेजे। बड़े मुसकल के साथ मंगाऐआ। तब राजे ने ब्राह्मण पुछेया जे हमारा तुम लाज करो। उस रात में ब्राह्मण दमोदर तामे सुपने बेठा उसके इष्ट ने बताया जे जब तुम जोध्या में जाएंगे उहां से रघनाथजी तुम लाएँगे तब इहा जग करेंगे होर राज रघनाथजी को देएँगे होर छड़ी आप पकड़ेंगे, राजा पकड़ेगा तब राजे को पाप जाएगा। तब दमोदर जागेया, तब दुसरे दिन सुपने का ब्यान किया, तब दमोदर गुसाईं होके जोध्या में गेया तब दमोदर गुसाईं गुटका सिधि वाला था। उहा पांडे के साथ मुलाकात करी, कीतने एक दिन जोध्या में रहे मंदर में रेहा, जब उसके काबू में रघनाथजी आये तब गुटका मुंह में पाया हरीदुआर में आई के पोंहुंचेया, उतने में पाण्डे को खबर हुई जे रघनाथजी यहां रहे नेही तब पांडा भी गुटका सिधि जाणता था तब वो भी हरीदुआर के कुसावर्त में पुजा करते उह्रा आईके पोंहचेया गया। तब दमोदर को कहा जे तुम ठाकर को कींऊं ले आयेया ता दमोदर ने कहा ने रघनाथजी ने सुपने में कहा जे राजे जगसींघ के पास कुलू में ले जायो तब हम लई आऐ। जे ता हमने झूठ बाताया होगा ता एह ठाकर तुम लई जायो एह तुम्हारे साथ आऐगा। जे ता हमने सच सुपने की बात कही होगी तब ठाकर तुमे उठाया न जायगा। जब पांडा ठाकर को उठाणे लगा तब उससे चुकेया न जाये, तब गुसाईं दमोदर चुके तब उसके हाथ में आउये। तब पांडे ने कहा जे जहां रघनाथ जी की मरजी होए उहां को लई जायो तब मकड़ाहर में लई आये राजे पास तब राजे ने रघनाथजी को सुओंप दिया होर छड़ीबरदार आप राजा बणेया। बड़ा जग कीता राजे का पाप दूर हो गेया। तब दामोदर गुसाईं को यति चर्रास खारीदा सासण बगसेया, मुइण ठाकर दुआरा बगसेया सरकार से राजे ठाकर वासते ध्यानगी लगी जगतसुख कोठी का जे अन था से रुपये धरमारथ सो चतरमासे में लगा। रोज रुपया (टका 2) भेंट लगती थी सो बरष के बरष जोध्या में जाति थी।"

इस कथा में नग्गर के पास रहने वाले बाबा किशनदास पौहारी का नाम नहीं आता। इस पाण्डुलिपि में राजा का झीड़ी के बाबा के साथ सम्पर्क बाद में हुआ बताया गया है। इस कथा के बाद पाण्डुलिपि में लग्ग, सुलतानपुर व अन्य गढ़ों के जीतने का उल्लेख है। उसके बाद उसमें लिखा है —

"इतना मुलख राजे जगतसींघ ने लीया। फेर राजा मकड़ाहर सें उठेया होर रघनाथ जी भी सरतानपुर में आईके रघनाथजी को मंदर पायेआ, होर मेहल पाये सेहर बसायेआ। उसके पीछे कबी राजा सुलतानपुर में रहे। कबी नग्गर में रहे। ठाउऐ में रेहता था। उहा झीढि में महापुरस बण में रेहते थे। ब्राह्मण कोठी के ब्राह्मण ने बताया जे इस बण में कोई महापुरस साधु रेहते है उसके पास जा रोया। ये जे साधु ये सेर बण बेठा राजा उससे कदरेया नहीं उसके पाउं पकड़े तब साधु प्रसीन होएया तब राजे को पीठ में पंजा दिया तब मनुष्य रूप धारेया तब राजा चेला बणाया, कंठी दीती, पूजा वासते नरसींघ दीता। तुम छत्री लोक है दो पंछी दा मास रोज देया करो होर तुम बी बीती को पाएगा करो होर एक बीती में हमारा चेला बेठे करेगा। तब जगतसिह को वचन दिया जे —

"आठ पीढ़ी मकड़सा नउ पीढ़ी पंडोरी
उसके पीछे जो राज खाये रघनाथजी साथ रखे डोरी"

दशहरा मेला में नृसिहजी की घोड़ी राजा की पालकी के साथ चलती है। रघुनाथ जी के मन्दिर में नृसिहजी का एक गोल-सा पत्थर है जिसकी रघुनाथजी के साथ पूजा-अर्चना व स्नान होता है। इस कथा के अनुसार एक कंठी तथा नरसींघ या नृसिह बाबा ने राजा को पूजा के लिए दिया।

इस समय रघुनाथ मन्दिर, सुलतानपुर में श्री रघुनाथजी, सीताजी, हनुमानजी की मूर्तियां हैं। रघुनाथजी की अंगुष्ठ मात्र मूर्ति सीताजी की मूर्ति से अधिक कलात्मक एवं वास्तुकला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। एक नृसिह जी का काला पत्थर है। सम्भवत: यह वही नृसिहजी हैं जो राजा जगतसिह को नग्गर से किशनदास पौहारी ने पूजा हेतु दिये। इसके अलावा एक बड़े आकार का सुन्दर जंतर है जो रघुनाथजी का बताया जाता है। एक अन्य जंतर नृसिहजी के नीचे रखा जाता है जो उतना कलात्मक नहीं है। मंदिर में प्रात:-काल आठ बजे के लगभग स्नान व पूजा होती है। इसे प्रात:कालीन पूजा कहा जाता है। इसमें सीताजी सहित सबको स्नान करवाया जाता है। दूसरी पूजा लगभग दस बजे होती है। इसे मध्याह्न पूजा कहा जाता है। इस पूजा में केवल रघुनाथजी तथा नृसिहजी को स्नान करवाया जाता है। स्नान करवाती बार नृसिहजी का काला पत्थर रघुनाथजी की मूर्ति के सामने रखा जाता है। इस पूजा में सीताजी का स्नान नहीं होता।

उक्त मूर्तियों के अलावा पत्थर की शालिग्राम तथा गणपति की चांदी की लगभग 4" की एक मूर्ति है। इस मंदिर में पहले चालीस उत्सव मनाये जाते थे।

देवी हिडिम्बा के बिना कोई कृत्य सम्भव नहीं

विजयदशमी के मुख्य उत्सव का आरम्भ देवी हिडिम्बा के आगमन के बिना

सम्भव नहीं होता। ढूंगरी (मनाली) से हिडिम्बा के पहुंचे बिना कोई कार्यवाही आरम्भ नहीं हो सकती। रघुनाथजी रथ-यात्रा के लिए नहीं निकल सकते। वर्तमान पालवंशीय राजपरिवार देवी को अपनी 'दादी' कहता है। एक लोककथा के अनुसार मायापुरी के निर्वासित राजकुमार विहंगमणीपाल को देवी ने ही कुल्लू का राज बख्शा। इसके पूर्व यहां स्पिति के राजाओं का दमनकारी शासन था। छोटे-छोटे राणा भी आपस में लड़ते रहते थे। हिडिम्बा की इच्छा से कुल्लू की प्रजा ने विहंगमणीपाल को राजा के लक्षणों से सम्पन्न जान जयधार जगतसुख में राजा घोषित किया।

देवी को बुलाने के लिए राजा की ओर से छड़ी भेजी जाती है जो कुल्लू के पास रामशिला तक जाती है। रामशिला में ही मनाली से आकर हिडिम्बा ठहरी होती है। यहां से देवी राजा का आमन्त्रण पाकर सुलतानपुर पहुंचती है। उसके पधारने पर ही आगामी कार्यवाही आरम्भ होती है। देवी का घड़छ (धूपित करने का बड़ा कलछ) राजा स्वयं उठाता है। फिर राजा देवी के सामने 'ठारा करड़ू रा घड़छ' उठाता है। ठारा करड़ू का घड़छ राजमहल में रखा रहता है।

रथ-यात्रा

धीरे-धीरे सब देवता रघुनाथजी के पास एकत्रित होते जाते हैं। राजमहल जाने वाले देवता सबसे पहले रघुनाथजी के मंदिर में माथा नवाते हैं फिर राजमहल में ठारा करड़ू के घड़छ के पास। कुछ देवता सुलतानपुर न जाकर सीधे ढालपुर में ही रथ-यात्रा में शामिल होते हैं। सुलतानपुर में रघुनाथजी को एक छोटी पालकी में सुसज्जित किया जाता है और देव समुदाय से सुशोभित देव-शिरोमणि रघुनाथजी को पालकी में ढालपुर मैदान में लाया जाता है। सुलतानपुर पहुंचे सभी देवता बाजे-गाजे सहित साथ आ जाते हैं। ढालपुर मैदान में रथ पहले से ही सजाया होता है। दशहरे से पहले इसके पहिए आदि की मरम्मत कर दी जाती है। रथ में रघुनाथजी को बिठा दिया जाता है। पुजारी बैठकर पूजा-अर्चना करता है, चंवर झुलाया जाता है। राजा छड़ी लेकर उपस्थित रहता है। राजपरिवार के अन्य लोग भी अपनी पारम्परिक वेशभूषा में सुसज्जित उपस्थित रहते हैं। पूजा-आराधना की जाती है। परिक्रमा की जाती है। रथ के चारों ओर देवता एकत्रित हो जाते हैं।

रथ-यात्रा को देखना व रथ को खींचना श्रद्धालु पवित्र कार्य समझते हैं। लोगों का अपार जनसमूह रथ के चारों ओर उमड़ पड़ता है। चारों ओर उमड़े आह्लादित देवता चारों ओर उछल-कूद मचाते हैं।

रथ-यात्रा आरम्भ होती है। भीड़ में हड़बड़ाहट फैल जाती है। कोई-कोई देवता भीड़ को रौंदते हुए तेजी से आगे भागते हैं। कोई उछल-उछलकर नाचते हैं। रथ के रस्से खींचने वालों की जयजयकार करती भीड़ आगे बढ़ती है। रथ सरकता है और इसके साथ ही देवता, मनुष्यों की भीड़ आगे बढ़ती है। लोग रथ के निकलने के रास्ते से हट-कर इधर-उधर भागते हैं।

एक शोर ! हर्षनाद ! बाजों की घाटियों को चौंका देने वाली ध्वनि । जयघोष ! धमाचौकड़ी ! ऊंचे-ऊंचे झंडे ! रघुनाथजी के देवताओं के आकर्षक निशान हवा में लहराते हैं । आकर्षक छत्र, ढोल, शहनाई, रणसिंगे ! उत्साहित हो सरकता रंग-बिरंगे लोगों का अपार समूह ! पारम्परिक वेशभूषा में सजे ग्रामीणों की श्रद्धामयी आंखें ! देश-विदेश से आये अचम्भित लोगों की भीड़ ! एक रोमांचकारी दृश्य उपस्थित हो जाता है सामने ।

रथ आकर रघुनाथजी के कैम्प तथा राजा रूपी के कैम्प के बीच खड़ा हो जाता है ।

अपने-अपने नियत स्थानों पर राजा रूपी तथा रघुनाथजी के कैंप लगे हैं । राजा रूपी का कैम्प जिलाधीश कार्यालय की ओर है तथा रघुनाथजी का कैम्प सड़क की ओर । रघुनाथजी को अपने कैम्प में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है । सात दिनों तक रघुनाथजी को यहीं रहना होता है । अन्य देवता अपने-अपने निश्चित स्थानों को चले जाते हैं । हर देवता का मैदान में अपना निश्चित स्थान है । इस स्थान में देवता के बैठने के लिये 'कुल्लू दशहरा कमेटी' की ओर से टैंट लगे होते हैं । टैंट में देवता को बिठा दिया जाता है । कमेटी द्वारा यहां प्रकाश का प्रबन्ध भी किया जाता है । देवताओं को कमेटी की ओर से नजराना दिया जाता है । देवता के साथ आये आदमी भी इसी टैंट में रहते हैं ।

मलाणा का जमलू नहीं आता

दशहरे में कुछ देवता नहीं आते । परन्तु मलाणा का जमलू अपनी विचित्र प्रथा के कारण दशहरे में आकर भी नहीं आता । ऋषि जमदग्नि के दो निशान—धड़छ और घण्टी व्यास के उस पार डोभी में आते हैं । निशानों के साथ आये आदमी भी वहीं रहते हैं । यहां देवता का अपना स्थान है । व्यास के पार ठहरते हुए भी देवता दशहरे में शामिल नहीं होता ।

कमांद का पाराशर ऋषि भी दशहरे में नहीं आता । देवी भेखली कटोरी में टीका भेजती है ।

दशहरे में आने के लिए कुछ देवता अपनी प्रजा को बाध्य करते हैं । बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के कारण, आर्थिक कठिनाइयों के कारण कुछ ग्रामीण अपने देवताओं को दशहरे में नहीं लाना चाहते परन्तु देवता उन्हें दशहरा में सम्मिलित होने पर मजबूर करता है । देवता के आने का अर्थ होता है, देवता के पुजारी, पुरोहित, कारदार, गूर, बाजे वालों के साथ गांव के लगभग सौ से अधिक आदमी । देवताओं के दशहरे में आने को 'चाकरी' कहा जाता है ।

सात दिवसीय आयोजन

अब आरम्भ होता है विजयदशमी का सात दिवसीय आयोजन ! रघुनाथजी

अपने कैम्प में रहते हैं। राजा को अपने कैम्प में रहना होता है। राजा के कैम्प में महाराज के सब निशान पंखे, छत्र आदि रखे जाते हैं। प्रतिदिन नृसिंहजी को भोग लगता है। उधर रघुनाथजी के कैम्प में नित्य पूजा-अर्चना चलती रहती है। भजन-कीर्तन होता है।

सब देवता अपने स्थान में बैठते हैं। नाचते हैं। दिन में, रात में ग्रामीण अपने देवता के चारों ओर नाचते हैं। रात-रात-भर नृत्य चलता रहता है। दिन में कभी भविष्यवाणी होती है, कभी श्रद्धालु मनौतियां मनाते हैं। भविष्य पूछते हैं। देवता अपनी इच्छा से मेले में घूमता है, दूसरे देवता से मिलने जाता है। कई बार समीपस्थ ग्रामवासी देवता को अपने यहां आमन्त्रित करते हैं। कुछ देवता, देवियां, नाग इकट्ठे हो-होकर नाचते हुए चलते हैं। कई बार ऐसा भी देखने में आया कि एक देवता अपने टेंट में चुप बैठा है कि अचानक उसे उठाने वाले तेजी से उठते हैं और देवता भागता हुआ दूर निकल जाता है। दूसरे देवता के आने पर भी देवता उठकर उसका स्वागत करता है।

देवताओं के इस तरह भागने-दौड़ने, एक-दूसरे से गले मिलने, नमस्कार करने की प्रक्रिया में कहा जाता है कि देवता को उठाने वालों पर देवता स्वतः भार डालता है। इस भार के प्रभाव से उठाने वाले भागते हैं, रुकते हैं, झुकते हैं या बैठते हैं।

प्रतिदिन सायं नृसिंहजी की घोड़ी और राजा रूपी पालकी में बैठ निश्चित रास्ते से मेले की परिक्रमा करते हैं। इसके साथ दो-तीन देवता व बाजा चलता रहता है।

मुहल्ला

अंतिम रात्रि जागरण होता है। रात-भर मेले की रौनक नहीं थमती। नृत्य चलता रहता है। चहल-पहल बनी रहती है।

मुहल्ले की शाम दुर्गा-पूजन के साथ त्रिपुरा सुन्दरी की पूजा होती है। नग्गर की त्रिपुरा सुन्दरी राजा की कुलदेवी है। एक आदमी शेर की खाल पहनकर शेर बनता है और एक देवी। रघुनाथजी की मूर्ति के सामने कुलदेवी का पूजन होता है फिर राजा के कैम्प में इनका नृत्य होता है। रात को नृत्य ठारा करड़ू के सामने भी होता है।

पहले जब राजा शांगरी का कैम्प भी लगता था तो उसमें रासलीला होती थी। ताल व लय के साथ कृष्ण व गोपियां नाचते थे। राजा शांगरी के राजमहल से प्राप्त देई खीमी क्षरा लिखित 'रासलीला' की एक हस्तलिखित पांडुलिपि भी मिली है, जिससे सिद्ध होता है कि राजा शांगरी, जो राजा रूपी के कुल से ही थे, कृष्णलीला के कायल थे।

मुहल्ले से पहले पुनः राजा हिडिम्बा के पास उसे आमन्त्रित करने हेतु छड़ी भेजता है। तड़के चार-पांच बजे सब देवताओं की रघुनाथजी के पास हाजिरी होती है। देवता राजा की गद्दी के पास भी जाते हैं और अपना शेष फूल आदि फेंकते हैं।

लंका-दहन

अंतिम दिन होता है लंका-दहन !

दोपहर बाद राजा का शामियाना कला-केन्द्र के सामने लगता है, जहां राजा कुछ समय तक बैठता है। यहां भी कुछ देवता साथ होते हैं और नृत्य होता है। फिर रघुनाथजी के बुलावे पर राजा कला-केन्द्र के पहले गेट से होकर रघुनाथजी के कैम्प में हाजिर होता है।

सायंकाल राजा के कैम्प में बलियों का पूजन होता है और निश्चित समय पर रघुनाथजी का रथ पुनः चल देता है नीचे की ओर रावण को मिटाने।

मैदान के निचले छोर पर व्यास के किनारे झाड़ियां एकत्रित की होती हैं, जिन पर रावण का मुखौटा रखा जाता है। इसे ही लंका समझा जाता है। वास्तव में पहले इस स्थान पर व्यास का पानी दो धाराओं में बंट जाता था और बीच में टापू लंका समझा जाता था। यहां राजा अपनी छड़ी हडमानी बाग के महंत के पास देता है। फिर तीर निकालकर कोठी लग या सारी के किसी आदमी को दिये जाते हैं। वह आदमी तीर रावण को लगाकर राजा को वापस कर देता है। राजा इन तीरों को रघुनाथजी को सौंपता है जिसके बदले रघुनाथजी की ओर से बगा—साफा दिया जाता है। जिस समय तीर मारकर रावण व लंका जलाई जाती है, उसी समय पांच बलियां—भैंसा, भेड़ा, सुअर, मुर्गा तथा केंकड़ा की दी जाती हैं। इस कृत्य में देवी हिडिम्बा भी उपस्थित रहती है। भैंसे का सिर देवी के आदमियों के सम्मुख पेश किया जाता है। जो आदमी जलती लंका से रावण का मुखौटा उठा लाता है उसे भी इनाम दिया जाता है।

इस कृत्य में पंचबलि के सम्बन्ध में ऐसा विश्वास है कि ये प्रथा राजमहल में काली के आगमन पर आरम्भ की गई, उससे पूर्व सम्भवतः बलियां न दी जाती हों। यद्यपि दशहरे पर भैंसे की बलि देना आश्चर्यजनक नहीं है, अन्य संस्कृतियों में भी यह प्रथा विद्यमान है। हिडिम्बा के मंदिर में भी भैंसे की बलि दी जाती थी। जे० कैलवर्ट ने अपनी पुस्तक 'द सिलवर कण्ट्री' में हिडिम्बा के मंदिर में एक ऐसे कृत्य का चित्र दिया है जिसमें भैंसे की बलि दी जा रही थी (यद्यपि चित्रकार ने भैंसे को बैल जैसा बनाया है)। कैलवर्ट ने 1869 के हिडिम्बा मंदिर में हुए उत्सव की चर्चा की है जिसमें भैंसा तथा सौ भेड़ें बलि किये गये थे।

लंका-दहन के पश्चात् पुनः यात्रा मुड़ती है। उधर से सीताजी की मूर्ति कैम्प से लाकर रथ में बिठा दी जाती है, जैसे अब इन्हें लंका से लाया गया हो। अब होता है विजय का उल्लास ! आगे-आगे रघुनाथजी। कुछ दूरी पर नृसिंहजी व राजा। पुनः रथ मैदान के सिरे पर खड़ा कर दिया जाता है।

रघुनाथजी को छोटी पालकी में बिठा सुलतानपुर ले जाया जाता है। कुछ देवता उनके साथ सुलतानपुर तक जाते हैं, अधिकतर उसी समय अपने-अपने स्थानों को लौट जाते हैं।

दूसरा पक्ष : वर्तमान रूप

इस पारम्परिक व सांस्कृतिक सम्पदा के निभाने के अतिरिक्त कुल्लू दशहरा का अब दूसरा पक्ष उभरकर सामने आया है जिसके कारण वर्तमान सन्दर्भों में इसे 'अन्तर्राष्ट्रीयता' का दर्जा मिला है।

सात दिनों तक जब मैदान में यह सांस्कृतिक परम्पराएं निभाई जाती हैं, दूसरी ओर कला-केन्द्र मंच में सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। इस समय तक इस उत्सव को अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य उत्सव का दर्जा मिल चुका है। प्रत्येक वर्ष इसमें देश के विभिन्न भागों से तथा विदेशों से लोकनृत्य दल भाग लेते हैं। अब तक यहां पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक, बंगाल, कश्मीर, गुजरात आदि के लगभग सभी प्रान्तों के दल अपने कार्यक्रम का प्रदर्शन कर चुके हैं।

विदेशी दलों में 1973 में रोमानिया का दल आया और 1976 में रूसी बेले। 1979 में रूसी गायक दल आया तो 1980 में रूसी पपेट शो। 1981 में भूटान तथा नेपाल, दो विदेशी दलों का आकर्षण रहा। 1982 में बंगला देश की गायिका यासमिन् पधारी। इन कार्यक्रमों ने इस उत्सव को पुनः सात समुद्रों पार तक पहुंचा दिया।

हिमाचल के भूतपूर्व भाषा-संस्कृति मन्त्री (प्रथम भाषा-संस्कृति मन्त्री) श्री लालचंद प्रार्थी बताते हैं कि देवताओं की मुआफियां जब्त होने के बाद इनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। दशहरे में देवताओं का आना कम हो गया। धीरे-धीरे इस महत्त्व-पूर्ण उत्सव की रौनक घटने लगी। अंत में दस-बारह देवता ही रह गये जो उत्सव में आ पाते थे। अब आमन्त्रित देवताओं पर होने वाले व्यय का प्रश्न उठा। सारी व्यवस्था का प्रश्न उठा। फिर गठन हुआ 'कुल्लू दशहरा कमेटी' का। जिलाधीश कुल्लू इसके अध्यक्ष बने और उप-मण्डलाधिकारी (नागर) सचिव। सरकार की ओर से अनुदान मिलने लगा। कमेटी द्वारा भी धन एकत्रित किया जाने लगा। कला-केन्द्र मंच, जो पहले एक चबूतरा होता था, एक ओपन-एयर थियेटर के रूप में विकसित हुआ। कला-केन्द्र मंच एक अन्तर्राष्ट्रीय मंच बन गया। हिमाचल में भाषा-संस्कृति विभाग के गठन के बाद इस मंच को विभाग को सौंप दिया गया।

विशाल हिमाचल के गठन से पूर्व जब कुल्लू पंजाब में था तो पंजाब सरकार की ओर से भी इस उत्सव को आर्थिक सहायता मिला करती थी। 1966 में इस उत्सव को राज्यस्तरीय उत्सव का दर्जा मिल गया। 1970 में अन्तर्राष्ट्रीय बनाने की घोषणा की गई जिसके फलस्वरूप 1973 में रोमानिया का सांस्कृतिक दल कुल्लू की धरती पर उतरा।

विकास व सम्भावनाएं

मुख्यता इस उत्सव के दो पहलू हैं, एक तो पारम्परिक पक्ष, जिस ढंग से दशहरा पहले मनाया जाता था और दूसरा पक्ष है आधुनिक पक्ष—'अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य

उत्सव' का।

जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय होने की बात है, निश्चित रूप से इस उत्सव ने वह ऊंचाई ग्रहण कर ली है। देश-विदेश के सांस्कृतिक कार्यक्रमों के प्रस्तुतीकरण को देखते हुए इस उत्सव में उत्तरोत्तर वृद्धि व विकास हुआ है। हर दशहरे पर लोगों को विदेशी दलों का ही प्रमुख आकर्षण रहता है। जिस वर्ष में कोई विदेशी दल नहीं आ पाता, उस वर्ष दशहरा फीका समझा जाता है। इसी सन्दर्भ में पिछले दशहरों—जब रूस व रोमानिया के दल आये थे, को अब के दशहरों से उच्चस्तरीय माना जाता है। हिमाचल के एकमात्र अनूठे ओपन एयर थियेटर—कला-केन्द्र के बनने से सांस्कृतिक दलों को जो यहां सुविधा प्राप्त होती है, वह अन्यत्र नहीं मिलती। प्रत्येक वर्ष देशी-विदेशी दलों के प्रस्तुतिकरण के कारण यहां के लोगों में इस दिशा में उत्कृष्ट रुचि पैदा हो गई है जिसके कारण कोई भी छोटा-मोटा कार्यक्रम इस मंच पर जम नहीं पाता।

इस प्रगति का दूसरा पक्ष भी है। कुल्लू दशहरा के अन्तर्राष्ट्रीय बनने के फलस्वरूप यहां का लोक-नर्तक पिछड़ गया है। कुल्लूई या हिमाचली लोकनृत्य कुल्लू दशहरा के दौरान जम नहीं पाता। अन्य प्रान्तों व विदेशी दलों की प्रस्तुति के कारण-दर्शक, जो अधिकांश स्थानीय ही होते हैं, हिमाचली नृत्य देखना पसंद नहीं करते और एकाध प्रस्तुति के समय, जो आयोजकों को विवशता से देनी पड़ती है, जी भरकर हूटिंग सुनने को मिलती है। दूसरे, इस कार्यक्रम के कारण, प्राकृतिक रूप से देवताओं के पास रात-रात-भर चलने वाला ग्रामीणों का लोकनृत्य घट गया है। अब सभी कला-केन्द्र की ओर भागते हैं। कई देवताओं के रथों के पास तो केवल दो-तीन पहरेदार ही बचे होते हैं।

सांस्कृतिक पक्ष में एक बात ध्यान आकर्षित करती है। यह देवताओं के आगमन पर उनके खर्च का भार है। देवता अपनी सम्पत्तियों, जमीनों के छिनने के कारण कंगाल हो गये हैं। उनका दशहरे पर आने में तथा यहां रहने में इतना व्यय होता है कि उसे वहन करना ग्रामीणों के या कुल्लू दशहरा कमेटी के वश की बात नहीं है। उदाहरण के तौर पर 1980 में पधारे 74 देवताओं को कमेटी द्वारा 47,745 रुपये वितरित किये गये या किसी न किसी रूप में इन पर व्यय किये गये। इसके अलावा देवताओं द्वारा स्वयं किया गया व्यय अलग है। यद्यपि कमेटी अपने स्तर पर व्यय की पूर्ति के लिए चंदा एकत्रित करती है, सरकार की ओर से अनुदान व अन्य सहायता भी मिलती है, तथापि देवताओं को इस प्रकार से खर्च देना कहां तक सम्भव हो पायेगा? वर्ष 1982 में, जब सेब की फसल स्कैब से नष्ट हो गई, कमेटी द्वारा अल्प चंदा एकत्रित किया जा सका, फलतः दशहरा कठिनता से निभा।

कुल्लू दशहरा में प्रश्न केवल राम-रावण युद्ध की प्रस्तुति को दोहराना ही नहीं है, इसके साथ और सांस्कृतिक पक्ष भी जुड़े हुए हैं, जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता है। यह उत्सव इस समय देश के गिने-चुने ऐसे उत्सवों में से एक है जिसके हर पहलू का संरक्षण, विकास व उत्थान आवश्यक है।

मैदान की सुरक्षा

ढालपुर मैदान में दशहरे के समय उपस्थित होने वाले देवताओं की अपनी-अपनी निश्चित जगहें हैं, जहां वे बैठते हैं। जिस देवता का स्थान छिन जाता है, वह दशहरे में आना छोड़ देता है। मैदान में अस्पताल की ओर व संलग्न भाग में जहां कुछ निर्माण-कार्य हो गया है, देवताओं के स्थान रुक गये हैं। फलतः वे देवता अब दशहरे में नहीं आते।

मैदान का दुर्भाग्य यही है कि जिला मुख्यालय यहीं है। सभी सरकारी कार्यालय मैदान की सीमाओं को छूते हैं। एक ओर नीचे कालेज है तो दूसरी ओर ऊपर स्कूल। विकास की सम्भावनाओं को देखते हुए यदि कहीं और निर्माण हो सकता है तो वह मैदान में ही सम्भव है। मैदान के पार अखाड़ा बाजार है जहां पहले ही अधिक आबादी है। मैदान से निचला भाग शहर व सरकारी कार्यालयों से दूर समझा जाता है।

मैदान को रोकने की बात तो अलग है, कुल्लू में खेल के मैदान की कमी को पूरा करने के लिए कला-केन्द्र के सामने वाले मैदान के हिस्से को समतल करने की योजना बनी थी जिसे जिला प्रशासन ने सफल प्रयास सिद्ध कर पूरा कर दिखाया। यद्यपि खेल का मैदान बनने पर इस भाग की भूमि कहीं नहीं जाती, वहीं की वहीं रहती है और अच्छी व सुधरी हालत में उपयोगी बनकर रहती है तथापि इस भाग में कुछ देवता बैठते थे जिनमें बिजली महादेव प्रमुख हैं। मैदान को समतल करता हुआ, इसके वक्षस्थल को रौंदता बुलडोजर ऊपर की पहाड़ियों से साफ नजर आता था। ऊपर से छोटा दिखने वाला नीचे आने पर दैत्याकार हो जाता और शहर आये ग्रामीण मैदान में खड़े हो घण्टों इसे देखते रहते। फिर बतियाते हुए पहाड़ियां चढ़ जाते।

यह आशंका फैल गई कि जिन देवताओं के स्थान उखड़ गये हैं, वे अब दशहरे में नहीं आएंगे। मैदान बनाने के बाद जब उन देवताओं से पूछा गया और अनुरोध किया गया कि सारी जगह तो उन्हीं की है, उन्हीं के बच्चे यहां खेलेंगे तो देवता मान गये। उनके उन्हीं के निर्देश पर बैठने के स्थान बना दिये गये। मैदान के दोनों छोरों पर रथ-यात्रा के लिए भी विधिवत् रास्ता बना दिया गया।

मैदान में किसी भी प्रकार के निर्माण के लिए स्थानीय जनता द्वारा भी आपत्ति की जाती है। इस उत्सव को बनाये रखने के लिए व विकास से सम्बन्धित निर्माण के लिए अन्य स्थान खोजा जाना अपेक्षित है, चाहे वह शहर से दूर ही क्यों न हो।

नरबलि : अंधविश्वास की कहानी

अभी भी अंधविश्वासों से ग्रस्त लोगों द्वारा नरबलि की छुटपुट घटनाएं होती रहती हैं। हिमाचल में ये बलियां तन्त्र विद्या से हटकर देवी-देवताओं से अधिक सम्बद्ध रही हैं। एकाधिक प्रतिष्ठित धर्म-स्थानों में इस प्रकार की घटनाएं होती रही हैं। ज्वालामुखी में जीभ काटकर चढ़ाने की चर्चाओं के साथ-साथ कुछ ही समय पूर्व एक नरबलि विशेष चर्चित रही है।

अभिशप्त नियति

प्रायः इस प्रकार की दुर्घटनाएं किसी स्वप्न से प्रेरित या धर्मान्धता व अन्ध-विश्वास से प्रेरित रहीं। देवता या देवी ने स्वप्न में कहा कि अमुक व्यक्ति की बलि दे दो या कभी तान्त्रिक के प्रलोभन पर भी मनुष्य स्वार्थवश किसी चहेते की जान लेने पर उतारू हो जाता है। राजाओं के समय में कुआं, बावड़ी, कुहल, किले, महल आदि के निर्माण के समय भी 'दूसरे की बेटियों' की नरबलि होती रही।

परन्तु हिमाचल के भीतरी भाग—कुल्लू, भीतरी-बाहरी सिराज, मण्डी, रामपुर आदि में बलि के लिए एक जाति विशेष शिकार रही है।

जैसे पशुबलि में मिमियाते बकरे की मां द्वारा खैर मनाने की मुहावरा बन गया है वैसे ही इन क्षेत्रों में नरबलि के लिए एक अलग जाति नियत है जिसका कार्य ही यही है। मनुष्य गरीबी-अमीरी में जन्म ले सकता है, गोरा-काला हो सकता है, गूंगा-बहरा हो सकता है पर बलि के लिए ही जन्म लेना, एक आश्चर्य अवश्य है, परन्तु है सत्य। यद्यपि समय के अनुसार अब बलि प्रतीक मात्र रह गई है तथापि पिछले समयों में इस जाति में जन्मे बच्चे का भाग्य बकरे की तरह पहले ही लिख दिया होता था।

बेडा हो या नौड़

बाहरी सिराज और रामपुर बुशैहर की ओर इसे 'बेडा' कहते हैं, कुल्लू-मण्डी में 'नौड़'। वास्तव में यह एक ही जाति है। इनका कार्य एक ही है। सिर्फ विभिन्न क्षेत्रों में नाम का अन्तर है। इनका आपस में रोटी-बेटी का रिश्ता है। बेडा या नौड़ अन्य जाति की स्त्री से विवाह नहीं कर सकता। इस जाति के परिवार बहुत ही कम हैं। जो हैं, वे किसी न किसी देवता से सम्बद्ध हैं। ये देवता के लिए मरते हैं, उसी के लिए जीते

हैं। देवता ही इन्हें जमीन देता है, जायदाद देता है, वही रक्षक है, वही जीवन देता है, मारता भी वही है।

भुण्डा यानी नरमेध

बाहरी सिराज व रामपुर की ओर 'भुण्डा' नाम का एक समारोह होता है। निरमण्ड में परशुराम मन्दिर से सम्बद्ध भुण्डा बहुत प्रसिद्ध रहा है। यह महायज्ञ प्रत्येक बारह वर्ष बाद होता था। रामपुर के क्षेत्र में, बाहरी सिराज के बेहना आदि में ये भुण्डे कुछ समय के अन्तराल के बाद होते रहते थे। इनमें प्रायः एक ही पद्धति से हवन आदि के बाद रस्से द्वारा घोड़ी पर बिठाकर बेडा जाति के पुरुष को नीचे लुढ़काने का रिवाज था। ढांक से डेढ़-दो किलोमीटर लम्बे रस्से को बांधा जाता जिसे घोड़ी पर बिठा बेडे को लुढ़काना होता था। इस समय इसे ज्याली या ज्याई कहा जाता है। इस प्रक्रिया में मृत्यु हो जाने पर उसके परिजनों को देवता की ओर से भूमि दी जाती है।

मौत का आतंक

निरमण्ड में इस समय एक बेडा परिवार है। इस परिवार का मुखिया जिउणू, राम है जिसका पैंतीस वर्षीय पुत्र मस्तराम अब मेट है।

जब जिउणू, राम से पूछा गया कि क्या वह भी कभी 'ज्याली' बना तो उसने दोनों हाथों से कान पकड़ते हुए कहा—"नहीं, मैं तो इससे बचा रहा। हां, मेरे पिताजी रामपुर बुशैहर में पांच-छः बार पड़े और जिन्दा रहे।"

वास्तव में निरमण्ड में 1856 के भुण्डे में एक बेडा की मृत्यु हो गई थी। इस दुर्घटना के बाद यहां कोई बेडा नहीं रहा। बाद में दो भाइयों—भालू और गोरिया को, जो दलाश (कुल्लू) व बुशैहर में रहते थे, मनाकर निरमण्ड लाया गया। वर्तमान परिवार इन्हीं की सन्तान हैं। सरबणू, जिसकी मृत्यु 1856 के भुण्डे में हुई बताई जाती है, इन दोनों भाइयों का मामा था। सरबणू की मृत्यु के बाद निरमण्ड में आदमी नहीं डाला गया क्योंकि तत्कालीन अंग्रेज सरकार ने इस खतरनाक खेल को बंद करवा दिया। इसके बाद पूजन आदि बेडा का ही होता रहा। ले जाया भी उसे जाता परन्तु वहां उसके स्थान पर बकरा डाल दिया जाता। रामपुर बुशैहर रियासत थी। अतः वहां बाद तक भी ज्याली पड़ता रहा।

एक दर्दनाक कहानी

मस्तराम निरमण्ड में अपने-आपको एकाकी समझता है। इसकी पत्नी कुल्लू से ब्याही गई है। गांव में तो क्या, दूर-दूर तक भी कोई इसकी बिरादरी का नहीं है। निरमण्ड के सन् बासठ के भुण्डे के समय वह सत्रह-अट्ठारह वर्ष का था।

वह बताता है, "रामपुर बुशैहर में हमारी बिरादरी का बड़ा मान-सम्मान होता था। गांव में बेडा जिस घर में जाकर जिस चीज को हाथ लगा देगा, वह उसे सहर्ष मिल
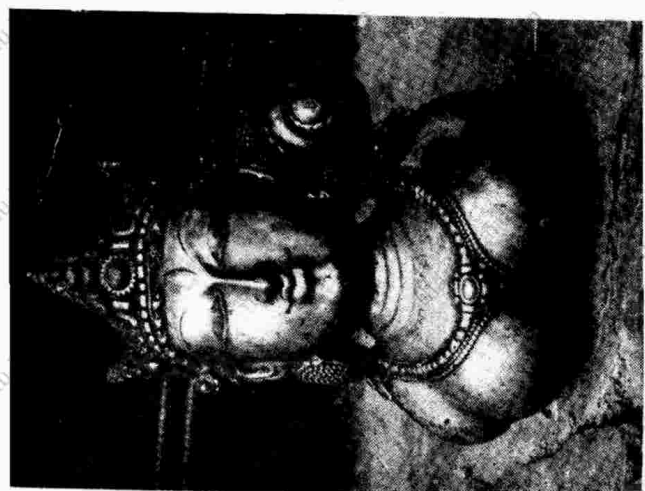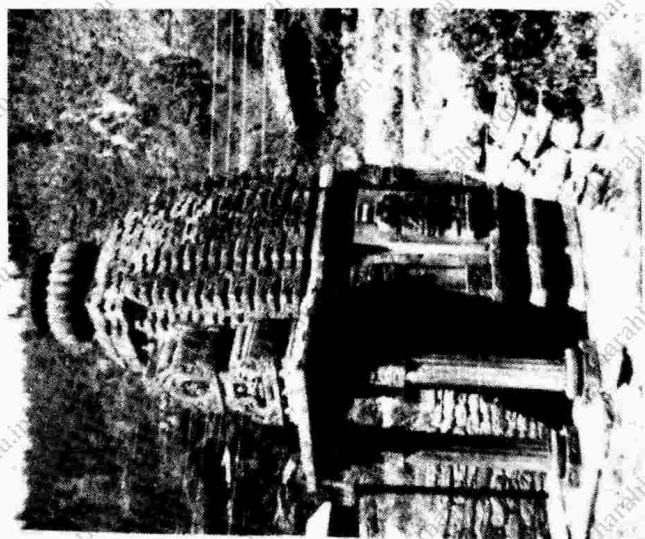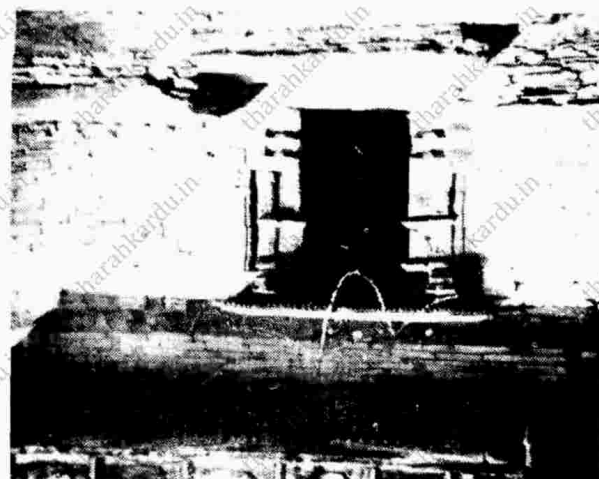
जायेगी। हमारे बुजुर्ग बस एक मुण्डा निभाकर सालों आराम से सोया करते थे। कमाने की क्या जरूरत ? पर हमारे प्राण गले में ही अटके रहते। पता नहीं कब क्या हो जाये। सरबणू की मौत के बाद निरमण्ड में बेडा परिवार नहीं रहा तो मेरे दो बुजुर्गों को फुसलाकर यहां लाया गया। उनमें एक गाना-बजाना जानता था। उस समय नायब साहब उन्हें अपने साथ ले आये। रास्ते-रास्ते महफिलें सजती रहीं और उन्हें यह कहते रहे कि इनाम आगे देंगे। निरमण्ड पहुंचने पर उन पर कड़ी नजर रखी गई। वहां ज्ञात हुआ कि यहां तो मुण्डा हो रहा है। उस समय नायब साहब ही राजा हुआ करते थे। आखिर उन्हें यहीं बस जाना पड़ा।"

कुल्लू-मण्डी में नौड़

कुल्लू में नौड़ विभिन्न ग्राम देवताओं से सम्बद्ध हैं। यहां भी इनकी संख्या बहुत अल्प है। केवल भुठी में नौड़ परिवार अधिक हैं अन्यथा दूर-दूर एक परिवार है। कुल्लू से संलग्न मण्डी के इलाकों में भी कहीं-कहीं इनके परिवार हैं। इस ओर ग्राम देवताओं के विशेष मेले लगते हैं जिन्हें काहिका कहा जाता है। इन मेलों में ये बलि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यहां इन्हें मारने की प्रक्रिया रस्से से झूलने की व्यावहारिक प्रक्रिया के बजाय कुछ-कुछ तान्त्रिक पद्धति है जो व्यावहारिक फंदे से सुगम भी हो सकती है और अपेक्षाकृत अधिक खतरनाक भी।

काहिका : जिसमें 'नौड़' मरता है

दस-ग्यारह साल का लड़का था वह। वसंत में उगी डाली-सा मासूम, पालतू खरगोश-सा निरीह। स्कूल की वर्दी का खाकी कुर्ता और पुराना-सा पाजामा पहने हुए। कपिल मुनि के रथ के पास बिछी चटाई पर लेटा हुआ। समीप ही मां बैठी थी, कुछ मायूस-सी।

"यही नौड़ है, जो आज मरेगा।" किसी ने कहा।

अरे ! ये इतना-सा बच्चा, जिसने जीवन की दहलीज पर पांव भी नहीं रखा और मरेगा ! ...कोई बड़ा-बूढ़ा नहीं रह गया है मरने के लिए ? ...पता चला कि लड़के का बूढ़ा दादा है, मां है। बस यही परिवार है। बाप मर चुका है। दादा बहुत बूढ़ा हो गया है। बूढ़ा शरीर, मरने के बाद फिर से जी उठे, या न उठे, क्या पता ! अत: पोते को यह दीक्षा दे दी है। कहते हैं, एक बार एक वृद्ध नौड़ जो किसी मेले में मरा था, देवता व पुजारी आदि की लाख कोशिश के बावजूद भी जिंदा न हो सका। बूढ़ा शरीर, क्या पता जिंदा हो, न हो !

इधर-उधर ऊंची जगहों पर अपनी पारम्परिक वेशभूषा में औरतें, युवतियां नौड़ मरने का तमाशा देखने के लिए जमी थीं। दो-तीन दुकानें भी लग गई थीं—चाय की, जलेबी की, आलू-छोले की। एक ओर देवता के बाजे बज रहे थे। कुछ लोग मदमस्त गोलाकार नाच रहे थे।

बशौणा (कुल्लू का एक गांव) का काहिका। श्रावण महीने के देवस्थानों के मेले, जिनमें नौड़ मरता है, काहिका कहलाते हैं। दूसरे साधारण मेले शाह्‌णू कहे जाते हैं। वास्तव में ये मेले न होकर धार्मिक कृत्य ही हैं। इसे देव समागम के बहाने मनुष्य समागम कहा जा सकता है। यह काहिका तीसरे वर्ष मनाया जाता है। पिछले वर्ष दयार में त्रिजुगी नारायण के यहां मनाया गया था। इस वर्ष यहां। अगले वर्ष फिर दयार में।

नौड़ साढ़े छः बजे के करीब मरेगा। अभी आसपास के दूसरे गांवों से देवता आने हैं। दयार में त्रिजुगी नारायण हैं। गडसा में दुर्वासा ऋषि हैं। उन्हीं की प्रतीक्षा हो रही थी। सूरज धीरे-धीरे बादलों में सरकता सामने की पहाड़ी की ओर बढ़ रहा था। मां लड़के को कुछ समझा रही थी। ग्रामीण सेवों का उपहार लिए देवता के पास जूते उतारकर श्रद्धा से झुकते। पुजारी उन्हें मरूए के पत्ते प्रसाद रूप में देता। अब लड़के का बूढ़ा दादा भी वहां आ बैठा था। नौड़ परिवार यहां कस्तूरी मृग से दुर्लभ हैं। इस

काहिका में दूर पालगी गांव से आये थे ये लोग। नौड़ जाति का काम ही यह है तो क्या करें ! उसे देवता के लिए ही मरना है। देवता ही उसे जीवन देता है। पालन करता है। यह लड़का एक बार पहले भी दयार में मर चुका था। फिर भी भय तो रहता ही है। नन्ही-सी जान ! मां का हृदय ढोल के धमाके के साथ धक् से रह जाता।

सात बजने को आए। सूरज सामने पहाड़ी पर पके सेब-सा टिक गया। क्या पता कब लुढ़क जाये ! दूसरे देवता नहीं पहुंचे। अतः नौड़ मरने की तैयारी शुरू कर दी गई। काहिका परसों से शुरू था। परसों ही कपिल मुनि का रथ सजाया गया। कल आराम का दिन था। आज नौड़ मरने का। नौड़ को परसों से ही देवता के पास रहना था। उसे केवल दूध ही दिया जा रहा था पीने के लिए।

अब उसे नहलाने मंदिर में ले जाया गया। व्याकुल मां चारों ओर घिरे बच्चों, लोगों को पीछे कर रही थी। एक आदमी हाथ में बहुत पुराना-सा डण्डा लिए उसे नहलाकर ले आया। पीली धोती पहनाई गई थी उसे। गले में, कमर में कपड़े की पट्टियां-सी बंधी थीं। देवता के सामने खड़ा कर पूजन आरम्भ हुआ। हर पूजन के बाद जोर से ढोल पीटा जाता। वर्षा के कारण भीगे ढोल की ढप्-ढप् ध्वनि गूंजती।

पूजा के बाद लड़के को ऊपर ले जाना था। कपिल मुनि का रथ वहीं रहा। नर्तक दल ढोल-ढमाके सहित पुजारी व लड़के के साथ चल दिया। कुछ ही ऊपर पहले ही एक आदमी थाली में रोटियां रखे बैठा था। धीरे-धीरे सभी लोग नाचते हुए वहां पहुंच गए। रोटियां उसके ऊपर घुमाकर फेंक दी गईं। उसे बीच में खड़ा कर तीन बार चरनामृत पिलाया गया। चारों ओर लोग खड़े थे। पुजारी जोर से चिल्ला रहा था : "बोल कपिल मुनि की !" "जय !" "सियावर रामचन्द्र की !" "जय !" "पवनसुत हनुमान की !" "जय"।

तीसरी बार चरनामृत पीते ही लड़का निश्चेष्ट हो पीछे लुढ़क गया। आंखें बंद हो गईं। पुजारी व अन्य आदमियों ने उसे कन्धों पर उठा लिया और वापस चल दिए। अब 'नौड़' मर चुका था। आगे-आगे बाजे वाले व नर्तक थे, पीछे-पीछे उसे कन्धा दिये पुजारी व अन्य नर्तक। नीचे पहुंच मंदिर की परिक्रमा की गई।

देवता के पास बैठी मां की व्यथा आंखों से उमड़कर झरने लगी। लोग मदमस्त नाच रहे थे। बाजे बज रहे थे। वह अपने देवता पर चढ़े फूल से कुम्हलाये बच्चे को देख रही थी। ढोल का घुमड़ता स्वर उसके मन के अन्दर गहरे तक चोट कर रहा था। लोगों का नृत्य चुभ-चुभ जा रहा था उसे। फिर भी पास रखे देउ के रथ की आस्था मन को ढाढ़स बंधा रही थी।

परिक्रमा पूरी हुई। उसे देवता के पास लाया गया। लोगों ने उसे हाथों से थामा। बूढ़ा पुजारी हाथ में दूब लिए पूजन करने लगा। ढोल ढमढमा उठा। कपिल मुनि का जयघोष होने लगा। कुछ समय बीता। एक ने बाजे वालों को बंद होने का संकेत किया। एकाएक सभी वाद्य खामोश हो गए। एक आदमी में देवता आ गया था। वह जोर-जोर से जल्दी-जल्दी कुछ बोला। पुनः कपिल मुनि का जयघोष हुआ। पूजन फिर

आरम्भ हुआ। एक-एक करके लगभग दस मिनट बीत गए। मां की पनियारी आंखें बालक के चेहरे तक जा-जाकर खाली हुई जा रही थीं। तभी हलचल हुई। कपिल मुनि का जयघोष! हर्षध्वनि! बालक जी उठा था। ढोल, नगाड़े, शहनाई बज उठे। सभी ने अब देवता के चारों ओर गोलाकार नाचना शुरू कर दिया। लड़का अभी भी पूर्ण रूप से स्वस्थ नहीं लग रहा था। उसका चेहरा कटी डाल-सा लटका हुआ था। पुजारी उसे बगल में लिए नाच रहा था। नृत्य जारी था। अब देवता के गिर्द अढ़ाई फेरे लगने थे।

सूरज कब ढफ् से पहाड़ी के पीछे लुढ़क गया था, पता ही नहीं चला।

शिरढ़ काहिका

कुल्लू घाटी में सर्वाधिक रौनक वाला काहिका है शिरढ़ का। इसमें कुल्लू से लेकर मनाली तक के लोग आते हैं। मुख्य सड़क पर स्थित रायसन से लगभग दो किलोमीटर होने के कारण यहां लोग सुगमता से पहुंच जाते हैं। इस काहिका में छः देवता एकत्रित होते हैं। काहिका की प्रसिद्धि व रौनक के विषय में कहा जाता है—

'शिरढ़ लागा काहिका : दिल्ली लागा थराका' अर्थात् शिरढ़ में काहिका लगा जिससे दिल्ली थरथरा उठी। लोकगीतों में भी इस काहिका का उल्लेख किया जाता है।

काहिका कब हो ?

देवता के पुरोहित श्री शिवकुमार ने बताया, काली नाग को समर्पित शिरढ़ में हर तीसरे वर्ष जेठ के दस प्रविष्टे तथा बीस प्रविष्टे के बीच यह काहिका मनाया जाता है। इन तिथियों में जो वीरवार पड़ता है, उसी को काहिका का 'नौड़ मारने' का मुख्य उत्सव होता है। काहिके की तिथि पहली वैशाख के पहले वीरवार को नियत की जाती है। वैशाख के दूसरे वीरवार को एक पेड़ से सैल्ली (मशालों के लिए लकड़ी) लाई जाती है। तीसरे वीरवार देवता के बाजों को नये सिरे से तैयार किया जाता है। ढोल आदि मढ़े जाते हैं। चौथे वीरवार मंदिर की सफाई, लिपाई-पुताई होती है। पांचवें वीरवार इसे रंग-रोगन किया जाता है। पांचवां वीरवार यदि न हो तो यह कार्य काहिका से आठ दिन पूर्व किया जाता है। आठवें वीरवार काहिका होता है। इसकी पूर्व संध्या पर जागरण होता है। यह उल्लेखनीय है कि कुल्लू में जेठ में होने वाला यही काहिका है, अन्य स्थानों पर काहिके श्रावण में होते हैं।

निश्चित किए हुए पांच आदमी खरोल में जाकर बलि देने के बाद कराल गांव में आ जाते हैं। यहां एक आदमी काहिका बांधने के लिए पेड़ काटता है। शेष उसे ऊपर ही हाथों में थाम लेते हैं। पेड़ को धरती पर गिरने नहीं दिया जाता। इसी तरह चार पतले टहनीनुमा पेड़ काटे जाते हैं। इन्हें उठाकर लाया जाता है और जितनी लम्बाई अपेक्षित हो, उतना काटकर लकड़ी का सिरा आगे की ओर कर काहिका वाले स्थान में लाया जाता है। यह कृत्य बाजे-गाजे के साथ किया जाता है।

जागरण

जागरण में कराल गांव का देवता वीरनाथ भी जाता है।

काली नाग का मुकुट, जिसे 'नरोल' कहा जाता है, निकाला जाता है। देवता की सज्जा का कार्य डुग्गी लग के सुनियार करते हैं जिन्हें इस कार्य के लिए वहां से पैदल आना होता है। 'नरोल' केवल काहिका के समय ही निकाला जाता है, अन्यथा नहीं। यह एक झाड़ी विशेष 'भेखल' का बना हुआ बताया जाता है जिस पर चांदी के छत्र लगे हैं। इसे एक आदमी सिर पर धारण करता है। काहिका के बाद इसे पुनः मंदिर में संदूक में रख दिया जाता है और अगले काहिके तक नहीं निकाला जाता। अन्य अवसरों पर तथा दशहरे में देवता का बड़ा रथ सजता है। देवता का सिर पर उठाने वाला इसी प्रकार का मुकुट दरपोइण में भी है। यहां भी काहिका, फागली आदि विशिष्ट अवसरों पर जमलू का मुकुट निकाला जाता है। अन्य अवसरों पर तथा दशहरे में दूसरा बड़ा रथ जाता है जिसे दो आदमी उठाते हैं।

जागरण से पहले लढ़ की बलि दी जाती है। रात को नौड़ स्त्रियां, लड़कियां देवता की स्तुति में एक विशिष्ट गीत गाती हैं। नौड़ को सीता भी कहा जाता है। इसे नाग-पत्नी भी माना जाता है।

रात को ही होती है गूर खेल! देवता का गूर कटार से अपने पेट पर वार कर खून निकालता है और उसे देवता के धौंस पर गिराता है। वीरनाथ आदि देवताओं के गूर भी अन्य दिशाओं में इसी तरह खून चढ़ाते हैं।

पुरोहित शान्ति हवन करता है। नौड़ भी अपने ढंग से शान्ति हवन करता है।

मुख्य उत्सव

वीरवार के मुख्य उत्सव में बेंची से वीरनाथ, मंदरोल से वीरनाथ, शिल्हारी से नारायण, कराल से वीरनाथ, शिल्ह से थान तथा हलाण से नाग धूमल आते हैं। गत वर्ष (1982) मंदरोल तथा शिल्ह से देवता नहीं आए।

शिरढ़ काहिका में भी नौड़ स्त्रियों द्वारा अश्लील मजाक किया जाता है जो गत वर्ष दिन के उत्सव में नहीं के बराबर था। कहा जाता है, रात के उत्सव में जब गूर खेल होती है, नौड़ पुरुष व स्त्रियों द्वारा देवता के गूरों से, विशेषकर मेहमान देवताओं के गूरों से ऐसे मजाक किए जाते हैं जिसमें लकड़ी के लिंग या योनि की मुद्रा बनाकर चिढ़ाना शामिल है। काहिका के बीच में एक छोटा-सा ओखलीनुमा लकड़ी का पात्र था जिसमें ऊपर बने स्थान में जौ रखे हुए थे। यहीं आकर लोग छिद्रा या प्रायश्चित्त कर रहे थे। नौड़ सबको जौ दे रहा था। इसके साथ ही लकड़ी का बना एक लिंग पड़ा था। काहिका में रखे इस ओखलीनुमा पात्र को योनि का रूप भी माना जाता है।

यद्यपि इसमें सभी प्रकार के गुनाहों का प्रायश्चित्त लोगों द्वारा नौड़ के हाथों करवाया जाता है तथापि इसमें अवैध यौन-सम्बन्धों के प्रायश्चित्त का भी जिक्र किया जाता है जिन्हें प्रकट में स्वीकारा नहीं जा सकता। वैसे नौड़ अन्य संस्कारों में काहिका

के बिना भी प्रायश्चित्त करवाता है। उदाहरणत: शिशु के जन्म के समय नाभि काटने के पाप का प्रायश्चित्त कुछ स्थानों में नौड़ द्वारा ही करवाया जाता है।

काहिका के आरम्भ से ही देवताओं द्वारा नौड़ की खोज आरम्भ हो गई। काली नाग सहित सभी देवता, गूर, जनसमुदाय काहिका ने लेकर ऊपर तक देवता के स्थान तक जाते हैं। फिर नीचे वापस आ जाते हैं। पुन: जाते हैं। इस तरह कुछ देर काहिका में बैठने के बाद पुन: नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे नौड़ की खोज आरम्भ हो जाती है। शाम तक यही क्रम बना रहता है। देवताओं के साथ बहुत-से लोग नाचते-गाते, सीटियां बजाते चलते हैं।

कथा नाग-नौड़ की

इस काहिका से सम्बद्ध काली नाग व नौड़ की कथा है।

नागों के घड़े में आग गिरने से निकल भागने के बाद अनेक चमत्कार दिखाते हुए काली नाग साधु वेश में जला गांव में धूनी रमाए बैठा था। सोएल से एक नौड़ जो भुठी में अपने ससुराल से आ रहा था, साधु के पास बैठ चिलम पीने लगा। चिलम पीने के बाद साधु ने कहा : "चलो बच्चा ! तुम्हें ले चलते हैं।" नौड़ साधु के आग्रह पर साथ चलने को तैयार हो गया। वहीं एक पत्थर की सील पड़ी थी। साधु के कहने पर नौड़ ने वह बिना छेद की गोल सील उठा ली कि आगे जाकर नमक पीसने के काम आएगी। सील बहुत भारी थी। नौड़ के थक जाने पर उसने वह सील बेंची गांव के पास डोगा-बाग में रख दी। उसने सोचा सील तो आगे भी ढूंढ़ लेंगे। वह गोल पत्थर आज भी उस जगह पर पड़ा हुआ बताते हैं।

कथा के दूसरे रूपान्तर के अनुसार नौड़ ने वहां से दूसरी सील उठा ली जिसे शिरढ़ तक ले आया।

दोनों अब शिरढ़ पहुंच गए। उस समय शिरढ़ में बड़ा बाजार था। ऊपर राणे रहते थे। नौड़ को शिरढ़ के ऊपर एक स्थान पर बिठा साधु बाजार में दूध मांगने गया किन्तु किसी ने भी उसे दूध नहीं दिया। फिर साधु राणों के महल में पहुंचा। राणों ने उसे शतरंज खेलने के लिए आमन्त्रित किया। शतरंज में राणे हार गए। साधु जीत गया। राणों को अपनी हार स्वीकार न हुई। उन्होंने साधु को डरा-धमकाकर भगा दिया।

क्रोधित साधु सीधा कालीचांग पहाड़ पर चढ़ गया और एक बहुत बड़ा सरोवर बनाया। सरोवर में एकत्रित सारे पानी का बांध एकदम तोड़ दिया। इस बाढ़ से राणे महलों समेत तथा बाजार समेत बह गए।

जब साधु पुन: शिरढ़ में आया तो उसे नौड़ का स्मरण हुआ। इधर-उधर उसने नौड़ को बहुत खोजा। नौड़ न मिला। साधु ने सोचा, हो न हो वह निर्दोष भी बाढ़ में बह गया हो। थककर साधु उसी स्थान पर आ गया जहां वह उसे बिठा गया था। वहां देखा तो नौड़ एक झाड़ी के नीचे मरा पड़ा था।

नाग को बहुत दुःख हुआ। उसने आदमी भेज सोएल से उस नौड़ के सम्बन्धियों को बुला भेजा। वहां से नौड़ के लड़का-लड़की आए। बाप को मरा देख वे बहुत क्रोधित हुए और साधु को कोसने लगे जिसके कारण यह सब हुआ। नौड़ परिवार ने कहा कि अब इस लड़की को पत्नी रूप में स्वीकारो। पूरा खर्चा-पानी दो और हर तीसरे साल यहां छिद्रा (प्रायश्चित्त) करवाओ। साधु ने सब स्वीकारा और नौड़ को उसी स्थान पर दबा दिया।

कथा की पुनरावृत्ति

यह घटना जेठ में घटी थी। उसी स्थान पर, जहां नौड़ मरा था और दबाया गया था, हर तीसरे वर्ष काहिका मनाया जाता है जो प्रायश्चित्त का यज्ञ है। ग्रामीण इसलिए भी यह यज्ञ करते हैं कि नौड़ उनके द्वारा दूध आदि न दिए जाने के कारण उस स्थान पर भूखा-प्यासा मर गया।

नौड़ परिवार को पहले समय में 13 भार चावल और 7 भार सत्तू दो साल के भरण-पोषण के लिए दिए जाते थे। अब 5 भार चावल और डेढ़ भार सत्तू दिए जाते हैं।

नौड़ की खोज लगभग साढ़े पांच बजे तक जारी रही। जिस प्रकार नाग ने उसे ऊपर-नीचे आवाजें लगा कर, सीटियां बजा कर खोजा था, उसी प्रकार लोग सीटियां बजा-बजा उसे खोजते हैं।

अंतिम फेरे के बाद पूरा काफिला काहिका के पास मैदान में आग या। यहां कारदार ने चारों दिशाओं में तीर चलाए। पांचवां तीर आकाश की ओर छोड़ते ही नौड़ लुढ़क गया। इससे पहले पुरोहित नौड़ के मुंह में पंचरत्न दे देता है। अब उसे उठाकर काहिका तक लाया गया। यहीं इसे पुनः जीवनदान मिलना था। नौड़ स्त्रियां भेखल की डाल उसके शरीर पर ऊपर से नीचे फेरती हैं।

नौड़ के जी उठने के बाद प्रमुख कृत्य समाप्त हो जाता है। बलि देने के बाद काहिका उखाड़ दिया जाता है। दूसरे दिन जातर होती है। नौड़ बुधवार तक गांव में ही रहता है। इतने दिनों उसे गांव के हर घर में खाना खाना होता है। बुधवार को भी छोटा-सा मेला होता है और नौड़ अपने घर चला जाता है।

काहिका : नरमेध का विचित्र मेला

आषाण-श्रावण में कुल्लू में देवताओं के विशेष मेले लगते हैं जिन्हें 'काहिका' कहा जाता है। इन मेलों में, जिन्हें धार्मिक कृत्य ही कहना चाहिए, नौड़ मरता है। नौड़ किसी बकरे या भेड़े का नाम नहीं, अपितु एक जाति विशेष का नाम है। इस जाति का कार्य ही देवताओं के लिए मरना है। देवता ही इन्हें जीवनदान देता है। मारता भी वही है। कुल्लू व संलग्न मण्डी के इलाकों में नौड़ परिवार बहुत कम हैं। कुल्लू के बाहरी सिराज—निरमण्ड आदि तथा शिमला के रामपुर बुशैहर की ओर इस जाति को 'बेडा' कहा जाता है। यहां भुण्डा-उत्सवों में ये लोग काम आते हैं। नौड़ और बेडा का आपस में रोटी-बेटी का रिश्ता है।

काहिका प्रायः तीन तरह से होता है—एक तो मन्दिर में नव-निर्माण के समय, जैसे किसी मूर्ति, मोहरे या भवन के निर्माण पर। दूसरा परम्परागत तरीके से प्रत्येक वर्ष तीसरे, पांचवें, सातवें वर्ष। तीसरा देवता की इच्छा से। देवता ने कहा कि काहिका करो, तो हो गया। काहिके में प्रायः एक देवता नौड़ को मारता है तो दूसरा जिंदा करता है। किन्तु विभिन्न क्षेत्रों में काहिका करने, नौड़ को मारने की प्रक्रिया थोड़ी-बहुत भिन्न है।

वर्ष 1980 में काहिकों का दौर शुरू हुआ। शिरढ़ का तीसरे वर्ष होने वाला परम्परागत काहिका हुआ। दयार का तीसरे वर्ष होने वाला काहिका हुआ। दरपोइण में सात वर्ष बाद काहिका हुआ। छमाहू ण में उन्नीस वर्ष बाद और ग्रामङ में चौंतीस वर्ष बाद। बिजली महादेव, नरोगी, नरां, छौ, टिहरी आदि में कुछ समय के अन्तराल के बाद काहिके होते रहते हैं।

दयार काहिका

पुरातत्त्व की दृष्टि से कुल्लू के प्राचीन बजौरा के महादेव मन्दिर के ठीक सामने पार पहाड़ी पर है त्रिजुगी नारायण का मन्दिर। मन्दिर के भीतर वशिष्ठ की भांति काले पत्थर की विशाल मूर्ति है। त्रिजुगी नारायण—तीन शक्तियों ब्रह्मा, विष्णु, महेश की संयुक्त शक्ति का प्रतीक है। आसपास के देवता इसे अपना गुरु मानते हैं। एक लोक-कथा के अनुसार जो पौराणिक आख्यान पर आधारित है, इसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अनुसूया से जोड़ा जाता है। अपनी पत्नियों द्वारा प्रेरित त्रिदेव जब पतिव्रता अनुसूया की परीक्षा लेने गए तो दयार में अपने पसीने द्वारा त्रिजुगी नारायण की स्थापना की

ताकि उन्हें ढूंढ़ने आने वालों को वह राह बता सकें। दयार से आगे निजां में अनुसूया का मन्दिर भी है।

पूर्वाभिमुख मन्दिर की दाईं ओर काहिका बना है—सफेद कपड़े से ढकी एक वेदिका-सी। उसी तरह ऊपर शामियाना लगा है। अन्दर त्रिजुगी नारायण का रथ विराजमान है। वहीं नौड़, जो बारह बरस का लड़का है, इधर-उधर उछल-कूद मचा रहा है।

'नौड़' या 'नड़' ही काहिका का आधार है। 'नड़' को नर मानने से नरमेध अर्थ सार्थक होता है। इसे 'नड़बधा' भी कहा जाता है। दूसरा अर्थ नट से भी निकाला जाता है। ये लोग नाचने-गाने का भी कार्य करते हैं। यह नौड़ चन्दराम वही लड़का है जो गत वर्ष बशोणा-काहिका में मरा था। लड़के की मां व अन्य रिश्तेदार औरतें वहां बैठी हैं। दादा ब्रिकु नहीं दिखा।

इस दयार काहिके में लड़का आज चौथी बार मरने की तैयारी कर रहा था। सबसे पहले नौ बरस की आयु में यहीं मरा था।

"कितनी उम्र है तुम्हारी?" मैंने पूछा।

"ग्यारह पूरे हुए हैं, बारहवां चल रहा है।" "पढ़ता है?" "नहीं।"

"तुम्हें कैसा लगता है चरनामृत पीने के बाद?" उसे छलते हुए मैंने कहा।

"कुछ पता नहीं चलता।" "कुछ चक्कर-वक्कर, कोई दर्द-उर्द?" "नहीं। कुछ नहीं।"

इतना छोटा-सा बच्चा क्या मरने या बेहोश होने का नाटक कर सकता है!

इस विषय में एक वृद्ध ने बताया—"हमें भी शंका रहती थी इसके मरने के बारे में। जब जवान थे, तो नड़ को उठाकर लाते थे। कई बार हमने अपने साथ सुइयां ले छोड़नीं। जब मरने के बाद उसे उठाकर लाना तो कोई उसे सुई चुभो रहा है, कोई चुपके से चिकोटी काट रहा है। पर उसने कभी उफ् तक नहीं की। बस वैसे ही पड़ा रहा, जैसे मर चुका हो। सांस, धड़कन भी बहुत धीमे से चलती है उस समय।"

एक ग्रामीण ने बताया, एक बरस पहले जब यहां काहिका हो रहा था तो इस लड़के के दादा ने घर में निश्चय किया कि वह ही मरेगा। यहां आकर कुछ बदल गया। और यह लड़का पहली बार मरा। मर तो गया पर दोबारा जिंदा नहीं हो रहा था। कोई दो घण्टे का समय बीत गया। सभी घबरा गए कि कहीं लड़का···अचानक देवता ने लताड़ा कि जब दादा ने एक बार घर में मरने का निश्चय कर लिया था तो यहां मरा क्यों नहीं! बूढ़े ने गलती स्वीकारी और दया की भीख मांगी। बस फिर पन्द्रह मिनट भी नहीं लगे कि लड़का जी उठा।

जब तक नौड़ जी न उठे, नौड़ की पत्नी आदि का नृत्य जारी रहता है। यदि नौड़ दैववश मर भी जाए तो भी नृत्य जारी रखना पड़ता है। जब तक नौड़ को जलाकर राख न कर दिया जाए, नृत्य जारी रखना पड़ता है। उसके बाद ही वह रो सकती है। फिर गहने आदि सुहाग की निशानियां उतारती है और देवता के सारे मोहरे आदि

उखाड़कर ले जाती है।

एक काहिके में नौड़ के मरने के बाद पुजारियों की लाख कोशिश के बावजूद भी जिंदा न होने की चर्चा की जाती है।

इस नौड़ परिवार के घर पालगी में हैं जहां दुर्वासा ऋषि हैं। इस सारे इलाके में यही नौड़ परिवार है। शिरढ़ में सोएल से, छमाहृण में भ्रैण से तथा दरपोइण में मुठी से नौड़ आते हैं।

मंदिर के समीप रास्ते के किनारे पांच-सात दूकानें सजी हैं—चूड़ियों की, रंग-बिरंगी मिठाइयों की, चाय आदि की। मेला दो दिन पहले लगा था और कल तक चलना था। ग्रामीण सबसे पहले यहां आकर शामियाने के ऊपर सेब फेंकते और देवता के आगे झुक जाते। ग्रामीणों का देवता पर अगाध विश्वास है। सभी लोग यहां मनौतियां मनाने आते हैं। फरियादें लेकर आते हैं, मुरादें लेकर जाते हैं। इस तरह मेले में देवता के पास आने को चाकरी कहा जाता है।

अभी काहिका होने में समय था क्योंकि ऊपर के एक गांव से निगण की देवी को आना था। देवी के आगमन से पूर्व काहिका सम्पन्न नहीं हो सकता। इस काहिके में बरशैणी (कनाउर) मणीकर्ण से आगे से एक देवता को आना था जो आज मुन्तर में ठहरा हुआ था।

देवता के प्रांगण में, जिसे 'सौह' कहते हैं, लोगों ने नृत्य आरम्भ कर दिया था। नृत्य बहुत ही धीमी गति का था। बहुत देर से मैं देख रहा था, वे दो-तीन कदम ही आगे बढ़ पाये थे। इस मन्दगति से मदमस्त लोग रात-रात-भर नाचते रहते हैं।

शाम के लगभग छः बजे होंगे, सूरज सामने पहाड़ी से लगभग तीन फुट ऊपर बादलों के बीच चमक रहा था। ऊपर से देवी का रंगीन रथ उतरता दिखाई दिया। आगे-आगे बाजे चल रहे थे, पीछे-पीछे रथ। बादलों से ढके आकाश के नीचे हरी-भरी पहाड़ी और नीचे उतरता रंगीन रथ। एक अलौकिक दृश्य! नीचे त्रिजुगी नारायण के खेमे में हलचल मच गई। देवी का रंगीन रथ शीघ्रता से नीचे आ रहा था। त्रिजुगी नारायण भी एकदम उठकर चल दिये अगवानी करने। मंदिर के ऊपर ही देवी-देवता गले मिले और दोनों साथ-साथ मुड़कर आने लगे। आगे-आगे नौड़ चल रहा था। पीछे-पीछे नौड़ स्त्रियां गाती हुई। उससे पीछे नाचते-गाते लोगों का समूह।

देवी ने नारायण के मंदिर के आगे वन्दना की और दोनों के रथ मन्दिर की परिक्रमा करने लगे। अभी परिक्रमा पूरी भी नहीं हो पाई थी कि नीचे से लम्बा सफर तय कर देवता आ पहुंचा।

बहत्तर वर्ष बाद देवता का आगमन

बरशैणी का देवता जगथम। आज बहत्तर वर्ष के बाद पहुंचा गुरु के पास। त्रिजुगी नारायण इसका गुरु है। वह सीधा मन्दिर में न आकर ऊपर चला गया। मन्दिर के ऊपर ही उसका स्थान है। इस बात को लोग जानते हैं। यह पहले कब आया, यह

किसी को स्मरण नहीं । बहत्तर वर्ष का अन्तराल लम्बा होता है । बहत्तर वर्ष पूर्व यानी सन् 1908 में । कुछ अटकलें लगा रहे थे कि देवता बानवें वर्ष बाद आया । कुछ कह रहे थे, बयासी वर्ष बाद । परन्तु जगथम के पुजारी ने बताया कि देवता बहत्तर वर्ष बाद आया है ।

देवता का अधिकतर सामान चांदी का है । शहनाई, करनाल सब चांदी के हैं । नर्तकों के सिर के टोपे में चांदी की झालरें लगी हैं । गूर की वेशभूषा मलाणा के गूर से मिलती-जुलती है । जगथम, मलाणा के जमलू का बड़ा भाई है ।

नर्तकों ने नृत्य आरम्भ कर दिया । त्रिजुगी नारायण के कारदार आदि अब इस देवता की अगवानी को भागे । देवता ने भी उछल-उछलकर नृत्य आरम्भ कर दिया ।

देवता के बैठने का स्थान कहां है—यह कोई नहीं जानता । जिस जगह देवता पहुंचा, वहां ऊंची-ऊंची भांग उगी हुई थी । देवता अभी खड़ा है । बैठ नहीं रहा । फिर देवता एक आदमी में प्रवेश कर बोला, "नोएं माह्णु ! नौईं गलां···यह सब नये आदमी हैं । नई ही इनकी बातें हैं । यह सारी जगह मेरी है । मैं कहीं भी बैठ जाऊंगा ।" पुनः जयजयकार के साथ नृत्य आरम्भ हो गया ।

नौड़ तैयार हो गया । धोती पहने, हाथ में तलवार लिये । एक आदमी एक थाली में आटे का पेड़ा, रोटियां आदि लिये ऊपर निश्चित स्थान पर पहुंच गया । आस-पास ऊपर-नीचे भीड़ जमा हो गई । लोग नौड़ को लिये बाजों सहित नृत्य करते आ रहे थे । आगे-आगे गूर हाथ में खण्डा लिये नृत्य करता आ रहा था । वह बार-बार नौड़ के चारों ओर खण्डा घुमाता । नन्हा नौड़ उसे टुकुर-टुकुर देखे जा रहा था । नृत्य की मुद्रा भयावह थी । सारा शरीर कांप रहा था और आंखें बाहर को आ रही थीं । एक आदमी आटा फेंकता हुआ लोगों की भीड़ को पीछे कर रहा था ।

वहां पहुंच नौड़ ने रोटियों के टुकड़े चारों ओर फेंके । कटोरी में रखा पेय पिया और हाथ धो कुल्ला कर मसरबे से तीन बार चरनामृत पी लिया । पीछे दो आदमी हाथ बांधे लड़के को थामने के लिए खड़े थे । लड़का पीछे लुढ़का और उन्होंने थाम लिया । एक ने सिर को सहारा दिया । चारों ओर त्रिजुगी नारायण की जयजयकार हुई और नौड़ को उठाये सब वापस मुड़ गये । अब मन्दिर में फेरे लगाने के बाद उसे जीवन-दान देना था ।

दरपौइण काहिका

दरपौइण काहिका में नौड़ मारने की प्रक्रिया कुछ भिन्न थी ।

कुल्लू के ठीक ऊपर दरपौइण का शिखर है जहां जमलू (जमदग्नि) का स्थान है । मलाणा की भांति यहां भी फागुन में फागली मनाई जाती है ।

यहां तड़के चार बजे ही काहिका स्थापित कर दिया था । दो अन्य देवता भी सायं ही पहुंच चुके थे । चारों ओर चार टहनियां गाड़ ऊपर चंदोवा ताना हुआ था । नीचे बीचोबीच एक ढोलकी का खोल-सा रखा हुआ था । चारों कोनों पर पगड़ी पहने

चार पहरेदार तैनात थे जो किसी को वहां से गुजरने नहीं दे रहे थे।

लगभग दस बजे प्रातः देवताओं के रथ बाहर निकाले गये। देवता के छः गूर एक पंक्ति में खड़े हो गये। वरिष्ठ गूर वृद्ध था। केवल चोला पहने और बार बिखेरे गूर भव्य लग रहे थे। सबके हाथों में धूपित करने का धड़छ था।

काहिका : प्रायश्चित्त का यज्ञ

अब छिद्रा होना था। छिद्रा यानी प्रायश्चित्त। काहिका प्रायश्चित्त का यज्ञ है। इसमें इलाके भर के किसी भी आदमी द्वारा किसी भी प्रकार के पाप का प्रायश्चित्त किया जाता है। नौड़ काहिका में जा बैठा। देवता व गूर भी वहीं पहुंच गये। कुछ कृत्यों के बाद चारों ओर जौ फेंके जाने लगे। यही छिद्रा कहलाता है। जिसके ऊपर जौ गिरते हैं, वह पवित्र हुआ समझा जाता है। ग्रामीण इस नृत्य के समय अवश्य पहुंचते हैं ताकि जौ के स्पर्श से पापों से मुक्त हो सकें। बच्चों वाली स्त्रियां नौड़ से अपने बच्चों के जादू-टोने से बचाव के लिये जौ लेती हैं। हर ऐसे कृत्य के बाद काहिके में ही गूरों का देवताओं के संग नृत्य हो रहा था।

इसके बाद शुरू हुआ बलियों का सिलसिला। आसपास के गांवों से आठ बकरे, भेड़े व मेमने लाये हुए थे। देखते ही देखते एक के बाद एक धराशायी किया जाने लगा। पहले भेड़े की बलि काहिका के सामने ही दी गई। बलि का सिर व एक टांग काटकर नौड़ ने अपने पास ढोलकी के खोलनुमा पात्र के पास रख ली।

काहिका में नृत्य के समय एक विशेष किस्म का बाजा बजाया जाता है। इस लय को 'हुलकी' कहा जाता है।

बीच में दो-तीन बार गूर खेले। खेलने से पहले गूरों की आंखों से आंसुओं की अविरल धाराएं बह रहीं थी। देवता को धूपित करने वाली आग उनके हाथों पर गिर रही थी। एक बार एक ढोलक बजाने वाला भी खेल उठा। अन्य आदमी यदि खेल उठे तो वह एक हाथ से अपनी टोपी पकड़े रखता है क्योंकि टोपी गिर जाने का अर्थ होता कि वह व्यक्ति अब विशेष देवता का गूर बनेगा। पहली बलि के समय देवता बलि लेने से मुकर रहा था। खूब पानी फेंकने पर भी वह बिदक नहीं रहा था। जब तक बिदकता नहीं, बलि कबूल की हुई नहीं समझी जाती। इस प्रयास के बाद एक गूर खेला। आंखों से आंसू और हिलती बार घड़छ की आग हाथों पर। बहुत कोशिश के बावजूद भी उसके मुंह से एक शब्द भी न निकला। इसके थोड़ी देर बाद एक अन्य गूर खेला और पटापट कुछ बोलता गया।

एक आदमी को बार-बार देवता के आगे घुटने टेक बैठते और रोते देखा।

अब देवता के सौह में सभी देवता एक ओर खड़े हो गये और आरम्भ हुआ गूरों का नृत्य। इसे देउ खेल या लोहा खेलणा भी कहा जाता है। गूर कटार, संगलों आदि के साथ नृत्य करते हैं। वरिष्ठ गूर बारी-बारी से सभी गूरों को नचाता है। इसके बाद पुनः देवता अन्दर चले गये।

काहिका में नौड़ ही पुरोहित होता है। वही सारे कृत्यों को निभाता है। काहिका की अपनी ही कार्यप्रणाली है। अपना कर्मकाण्ड है। वास्तव में काहिका एक ऐसा यज्ञ है जिसमें बलि पुरुष को पुनः जीवनदान दिया जाता है।

इस काहिका में नौड़ डोलूराम मुठी से आया था। काफी हंसमुख, चुस्त और होशियार! जब मैंने उससे पूछा कि मरने के बाद कैसा लगता है तो उसने मसखरी से कहा, "बस, ऐसा लगता है कि बहुत ही ज्यादा शराब पी ली हो और बहुत गहरे नशे में हों···यानी कुछ पता नहीं चलता।"

"और दोबारा जीने के बाद?" "दोबारा जीने के बाद बहुत थकान महसूस होती है।"

"मरने से पहले किसी प्रकार का डर?" "डर तो रहता ही है।" उसने अपने सीने पर मेरा हाथ रखते हुए कहा, "देखो, कैसे धड़क रहा है। जवान आदमी हूं, मरने का डर तो रहता ही है। फिर भी सन्तुष्टि होती है कि यदि मरेंगे तो इतने लोगों के लिए मरेंगे। ये सब लोग मेरे कारण ही इकट्ठे हुए हैं।"

सायंकाल लगभग चार बजे पुनः देवता बाहर निकले। गूर अपनी पारम्परिक वेशभूषा में सज गये। काहिके के आसपास लोग उमड़ आये। कुछ कृत्यों के बाद नौड़ खड़ा हो गया। उसके ठीक सामने एक देवता गूर खड़ा हो गया। नौड़ के मुंह पर सफेद कपड़ा डाल दिया गया। पुजारी ने देवता के धनुष से एक तीर हवा में छोड़ा। दूसरा तीर नौड़ के ऊपर से गुजरते ही वह लुढ़क गया। पीछे खड़े दो आदमियों ने उसे कंधे पर थाम लिया। एक आदमी ने पीछे से उसकी दोनों टांगें ऊपर उठा लीं।

अब शुरू हुई शोभायात्रा, पूरे उल्लास के साथ। नौड़ को उसी स्थिति में दो आदमियों ने बांहों पर थाम रखा था। ऐसी स्थिति में उसका थक जाना स्वाभाविक था।

इस काहिके में अंत तक नौड़ गम्भीर नहीं हुआ। कोई भी भय या आतंक नहीं था उसके चेहरे पर। वैसे भी वह अपने कार्य में सधा हुआ कलाकार था। उसे उठाने वाले भी हंसते रहे, मजाक करते रहे। इसके विपरीत बशोणा व दयार में यह कृत्य अतिशय गम्भीरता से किया जा रहा था।

कई स्थानों, जैसे भेखली आदि में नौड़ को मन्त्रों से मारा जाता है।

काहिका के विषय में दंत कथाएं भी प्रचलित हैं। एक के अनुसार अहल्या पर कुदृष्टि के कारण महर्षि गौतम ने इन्द्र को शाप दिया जिससे उसका सारा शरीर योनि-मय हो गया। शापित इन्द्र ने विष्णु के पास फरियाद की। विष्णु ने सलाह दी कि काहिका करो। तब इन्द्र ने काहिका आरम्भ किया और नौड़ को यह कार्य सौंपा। कुल्लू के ऊपरी भाग के कुछ काहिकों, जैसे शिरढ़ व भेखली आदि में नौड़ पुरुष व स्त्रियां अश्लील हरकतों के साथ-साथ सभ्य समाज द्वारा वर्जित भाषा का खुल्लमखुल्ला प्रयोग करते हैं। आमन्त्रित देवताओं के गूरों के अलावा उपस्थित जन समुदाय से भी वे ऐसे मजाक करते हैं। कोई उन्हें ऐसा करने से रोक नहीं सकता। नौड़ नाराज न हो, इस

बात का विशेष ध्यान रखा जाता है अतः ये अपनी क्षमता के अनुसार अश्लील मजाक करते हैं। दरपौड़ण में नौड़ ने लकड़ी का बना लिंग एक विशिष्ट व्यक्ति के हाथ में थमा दिया जिसके बदले उसे नौड़ को कुछ रुपये देने पड़े। उक्त कथा के अनुसार जितनी अधिक ये बकवास करेंगे, उतनी ही इन्द्र की शापित योनिमय देह मुक्त होती जायेगी। अन्य विश्वास यह भी है कि इस अश्लील मजाक से भूत-प्रेतादि भाग जाते हैं। इसी हंसी-मजाक के कारण काहिका को 'कहकहा' से भी जोड़ा जाता है। अब इस तरह की हरकतें बहुत स्थानों पर बंद हो गई हैं। शहरी क्षेत्र से जुड़े होने के कारण काहिके पर औरतों को भेजना पसंद नहीं करते।

काहिका में नरमेध, परवर्ती, बलि प्रथा तथा तन्त्रवाद का समावेश है। कई स्थानों में तो यह नाटक मात्र ही रह गया है परन्तु कई जगह सोचने पर विवश करता है।

शतद्रु के किनारे

नदियां सभ्यताएं जनती हैं। विश्व की समस्त सभ्यताएं नदियों के किनारे ही विकसित हुई हैं। आज हम आपको उस सभ्यता की ओर ले चलते हैं जो नदी के मूल की सभ्यता है। जिसमें आज भी पौराणिकता जुड़ी हुई है। मैदानों की सभ्यता-संस्कृति खंडित होती रही है, परन्तु मूल की सभ्यता को गिराने कोई विजेता नहीं पहुंच पाया। मूल की सभ्यता अधिक कोमल, अधिक सुकुमार रही है जो कली समान होती है। इसमें पत्ती दर पत्ती कोमलता के साथ सुगन्ध रची-बसी रहती है और साथ ही बीज का भाव भी। पर्वत-कंदराओं की संस्कृति होने के कारण यह रहस्य के रोमांच से पूर्ण भी है।

शिमला से हम ऊपर की ओर चलते हैं। नारकण्डा तक पहुंचते-पहुंचते अपने को हम एक दूसरे लोक में पाते हैं जहां नगरों की भीड़ के स्थान पर लम्बे साधक देवदारुओं के बीच शान्त व स्निग्ध वातावरण है। मोटर कारों की चिल-पों की जगह यहां प्रकृति का धीमा-धीमा मधुर संगीत उभरता है। नारकंडा से आगे बस धीरे-धीरे घुमावदार मोड़ों में जैसे फंसती-फंसती नीचे उतरती जाती है। यहां समग्र रूप से सतलुज की उपत्यकाओं के दर्शन होते हैं। चारों ओर दिखता है पहाड़ों का विस्तार—एक ओर सेबों का गढ़ कोटगढ़ तो दूसरी ओर कुमारसेन। उस पार कुल्लू का बाहरी सिराज और ऊपर, बहुत ऊपर किन्नर कैलाश! चारों ओर ढलानदार हरे-भरे पहाड़ जिनकी उतराई सतलुज को छूती है। नारकंडा से सैंज तक पहुंचते-पहुंचते उतराई विश्राम लेती है और बस सतलुज की धारा के विपरीत रामपुर की ओर चलती है। सैंज से ही लूहरी होकर आनी को सड़क जाती है। लूहरी से आगे कच्ची सड़क है। रामपुर की ओर सड़क पक्की है। वास्तव में कच्ची सड़क ही बाहरी सिराज की विशेषता है। बाहरी सिराज में एक इंच भी पक्की सड़क नहीं है। रामपुर एक पुरानी रियासत है जो सतलुज के बाएं किनारे पर बसा है। रामपुर के पार ही है निरमण्ड जो पौराणिक परशुराम से जुड़ा है। रामपुर से पीछे नगर या दत्तनगर से झूले द्वारा सतलुज पार कर भी पांच किलोमीटर पैदल चल निरमण्ड पहुंचा जा सकता है। दत्तनगर में दत्तात्रेयजी का प्राचीन मन्दिर है। यहीं नीरथ नामक स्थान में हजार वर्ष पुराना सूर्य मन्दिर है, जो देश के गिने-चुने सूर्य मन्दिरों में से एक है।

परशुराम का गांव निरमण्ड पहाड़ी पर बसा एक बड़ा गांव है जिसके बराबर की आबादी वाले गांव हिमाचल में कम ही मिलते हैं। इस गांव में ठहरने की सुविधा के

लिए लोक निर्माण विभाग का विश्रामगृह है।

निरमण्ड, जिसे कुछ लोग श्रीपटल भी कहते हैं, नामकरण के अनुसार 'नरमुण्ड' या 'नृमुण्ड' से जोड़ा जाता है। लोकास्था है कि शिव सती को कन्धे पर उठाये जब घूम रहे थे तो इस स्थान पर आकर सती का मुण्ड गिर गया जिससे यह 'नृमुण्ड' कहलाया।

निरमण्ड व्यास की उपत्यकाओं का अंतिम छोर है और सतलुज का पहला। व्यास-सतलुज दोनों की संस्कृतियों का सम्मिश्रण होने के साथ-साथ यहां की संस्कृति का अपना वशिष्ट्य है। यहां व्यास की सभ्यता पर सतलुज की सभ्यता हावी हो गई लगती है। यहां की संस्कृति ने रामपुर, कोटगढ़ की ओर देखा है। कुल्लू की संस्कृति जलोड़ी जोत से होकर आनी तक तो पहुंची है किन्तु यहां तक आते-आते मानसून की भांति शुष्क हो गई है।

निरमण्ड से ऊपर श्रीखण्ड है। श्रीखण्ड या खण्डेश्वर महादेव की यात्रा पर आषाढ़ मास में जाते हैं।

निरमण्ड को छोटी काशी कहा जाता है। इस नाम की यथार्थता का बोध तब हो जाता है जब हम यहां के प्राचीन मन्दिरों की मूर्तियों की कलात्मकता, भीतिचित्रों की उत्कृष्ट कला को देखते हैं।

सबसे ऊपर शिव मन्दिर है। मन्दिर के बाहर शिवलिंग व नन्दी बैल है। समीप ही रखी सूर्य, भगवती आदि की उत्कृष्ट पाषाण मूर्तियां हैं। नीचे एक जलाशय भी है। भीतर शिवलिंग के स्थान पर एक प्राकृतिक पत्थर है जो इस मन्दिर से जुड़ी लोककथा को पुष्ट करता है। लोकास्था है कि पहले यह स्थान वीरान था। झाड़-झंखाड़ों से भरपूर। गौएं चरती थीं यहां। एक दुधारू गाय को जब दुहने बैठते तो थन खाली होते। गाय के स्वामी हैरान थे। आखिर एक दिन ग्वालों ने देख लिया कि गाय तो एक पत्थर के ऊपर दूध की धाराएं गिराती है। तब से इसे मानने लगे। अब भी गांव में दुधारू पशु के दूध की पहली धार यहां चढ़ाई जाती है।

शिव मन्दिर के नीचे चण्डी मन्दिर है। इस मन्दिर की काले रंग की मूर्तियां बरबस ध्यान आकर्षित करती हैं। इसके साथ एक छोटा शिवालय भी है। शिवालय के नीचे ही है एक बावड़ी, जिसका उपयोग मुण्डा उत्सव के समय कलश में पानी भरने के लिए किया जाता है।

गांव के सिरे पर है परशुराम का ऐतिहासिक मन्दिर जो बंद रहता है। यह मुण्डा उत्सव के समय खुलता है।

इसके नीचे गांव की दूसरी ओर, एक ओर अम्बिका माता का मन्दिर है तो दूसरी ओर दक्षिणेश्वर महादेव का। अम्बिका माता के मन्दिर के मुख्य द्वार तथा दक्षिणेश्वर महादेव के मन्दिर के भीतरी काष्ठ द्वार पर की गई नक्काशी देखते ही बनती है।

गांव के बीच में है सत्यनारायण या लक्ष्मीनारायण का मन्दिर। इसमें भी उत्कृष्ट काष्ठकला के दर्शन होते हैं।

वर्तमान मन्दिरों के अलावा ऐसा भी प्रतीत होता है कि कुछेक मन्दिर गिर चुके हैं। परशुराम मन्दिर के समीप 'अखाड़ा' नामक स्थान है। यहां छोटे-छोटे मन्दिर हैं और एक शिवलिंग व अन्य मूर्तियां हैं। यहां भी एक शिवालय था। यहीं पांच पाण्डवों की मूर्तियां भी हैं।

निरमण्ड से कुछ पीछे देवढांक है जहां एक गुफा है। इस गुफा में जगह-जगह ऊपर से पानी रिसता रहता है। गुफा के संकरे मार्ग में से गुजर जाने वाला भाग्यशाली समझा जाता है।

मन्दिरों के इस गांव में आकर ऐसा अनुभव होता है कि किसी पुरातन देव-नगरी में आ गये हों जहां मूर्तियों की दुनिया के पीछे शिव, अम्बिका, चण्डी, परशुराम, पाण्डव, हिडिम्बा का एक अज्ञात पौराणिक परिवेश है।

सितम्बर, 1981 के भण्डे से पूर्व की लेखकीय प्रतिक्रिया

क्या यहां परशुराम का फरसा रखा है ?

आप विश्वास करें या न करें, एक ऐसा मंदिर भी है, जो पिछले एकासठ वर्षों में केवल तीन बार खुला है। अब इसका द्वार खुले सत्रह वर्ष बीत चुके हैं। मंदिर के छोटे-से दरवाजे में लगी पुरानी किस्म की लम्बी-लम्बी सांकलों में जंग लग गई है। बंद इस-लिए नहीं है कि मंदिर खंडहर हो गया है, श्रद्धालुओं का गांव उजड़ गया है, या लोगों की आस्था उठ गई है। तथ्य यह है कि जिस यज्ञ के बाद मंदिर के कपाट खुलते थे, वह सत्रह वर्ष से आज तक नहीं हो पाया—और मंदिर बंद है—खुलने के लिए प्रतीक्षारत !

मंदिर का मुख्य द्वार खुला है। लकड़ी का भारी द्वार, पहाड़ी शैली के मंदिरों जैसा। पुजारी कोई नहीं है। पुजारी का काम भी क्या है ! मूर्ति तो कैद में है। फिर भी पास से गुजरता कोई भी आपको मुख्य द्वार से बाहर ही जूते उतार देने की चेतावनी दे देगा। अंदर घुसते ही ड्योढ़ीनुमा कमरे में एक विशालकाय मूर्ति है, जो अंधियारे गलियारे में मौन प्रहरी-सी खड़ी है। यह पाषाण मूर्ति हिरबणी (हिडिम्बा) की मानी जाती है। इसके साथ अनेक कथाएं जुड़ी हैं। आगे एक और लकड़ी का छोटा, परन्तु भारी द्वार है। इसके अंदर कमरे में गोबर बिखरा पड़ा है। शायद अब यह पशुओं की शरणस्थली बन गई है। बाहर खड़ा मूक प्रहरी पत्थर हो गया है, नहीं तो मंदिर में पशुओं का क्या काम ! भीतर जाकर चौड़ी खुली जगह है। देखने में लगता है, जैसे किसी पुराने पहाड़ी किले में घुस आये हैं। बीच में एक और मंदिर है। यहां एक बड़ा हवन कुण्ड है। हवन कुण्ड एक बड़े-से गोलाकार पत्थर से ढका हुआ है। इसी हवन कुण्ड में सालों तक लगा-तार हवन होता रहा है। हवन कुण्ड के साथ ही एक पानी का कुण्ड भी बताया जाता है, जो इस हवनस्थली की विशेषता है। कहते हैं इस जलकुण्ड में हवन के समय स्वयं जल प्रकट हो जाता था। इस मंदिर की दीवार से सटी मूर्तियां कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं, पर अब तो इन पर सालों की गर्द जमा है।

सांकलों में कैद परशुराम

मंदिर के बाहर किसी काम से जाता एक आदमी गाइड बनकर मेरे साथ हो लिया था। मुख्य द्वार के बाहर ही उसने जूते उतरवा दिये। उसके पांव में तो उतार देने लायक कुछ था ही नहीं। उस आदमी ने, जिसने उम्र के कम-से-कम साठ वसंत देखे

होंगे, हवन कुण्ड वाले मंदिर के दायीं ओर के, सांकलों से जकड़े छोटे-छोटे किन्तु ठोस द्वारों की ओर संकेत किया : "यह बीच वाला दरवाजा मंदिर का है। कई सालों से नहीं खुला। पिछली बार भी यह बड़ी मुश्किल से खोला गया था। अब तो लोहा हो गया है, लोहा ! तेल डाल-डालकर खोला जाता है। ये साथ का ऊपर वाला भी खुलता है। इसमें तो भांडा-बर्तन रखा है न ! ये नीचे वाला नहीं खुलता। बासठ के मुण्डे में इसको खोलने की कोशिश की गई थी, पर खुल न सका। इसमें पुराने हथियार हैं। परशुरामजी के शस्त्र हैं।"

"पता नहीं अंदर मंदिर की क्या हालत होगी ! न सफाई, न कुछ। कई सालों से बंद पड़ा है।"

उस आदमी की आंखें रहस्यमयी हो गईं : "ये मंदिर इतना ही थोड़े है, जितना बाहर से दिखता है। यह जो सामने दीवार देख रहे हैं न, इसके ऊपर आगे खेत हैं। उस खेत तक मंदिर है। मंदिर क्या गुफा ही है। यहां अंदर तप करते थे वे। अंदर तो जाया नहीं जाता। वैसे कई मूर्तियां हैं अंदर, परंतु आगे बड़े-बड़े नाग हैं, सांप हैं। उस वक्त जो भी मूर्ति हाथ लगती है, उसे ही बाहर निकाल लाते हैं। अंदर जाने वाले भी दमदार आदमी चाहिये, जो मौत से न डरें। परशुरामजी की मूर्ति के दो मुख चांदी के हैं और एक सोने का है। सोने के मुख में माथे पर हीरा है, हीरा !" एकाएक कहते-कहते उसके चेहरे पर मंदिर की वीरानगी छा गई।

"यहां देखने को कुछ नहीं है बाबूजी ! मैंने पहले ही कहा था···मंदिर तो बंद है। बाहर से क्या देखना !"

शिलाओं में लगता न्याय दरबार

बाहर मुख्य द्वार के सामने एक बड़ा चबूतरा है। चबूतरे के नीचे पत्थरों की पहली पंक्ति में नक्काशी की हुई है। ऊपर बड़ी शिलाओं में सूराख हैं। बताया जाता है कि इन सूराखों में बैठते समय पीठ के सहारे के लिए तकिया आदि टिकाने हेतु पत्थर लगे थे। यहीं बैठकर गांव के पंच कारदार की अध्यक्षता में गांव के झगड़े निपटाया करते थे। यहां फांसी तक की सजा दी जा सकती थी। मंदिर में जेल की कोठरियां थीं।

सतलुज की उपत्यकाएं ! एक ओर कुल्लू जिला का आनी-निरमंड है, तो दूसरी ओर शिमला का रामपुर। ऊपर, बहुत ऊपर किन्नर-कैलाश की हिमाच्छादित चोटियां। कुल्लू से निरमंड के लिए जलोड़ी जोत से आनी होकर एक कच्चा बस मार्ग है जो वर्षा व बर्फ की दया पर है। एक मार्ग बश्लोई जोत से है, जो पैदल मार्ग है। वैसे बस द्वारा शिमला से रामपुर ही जाना पड़ता है। रामपुर से निरमंड के लिये बस सुलभ है, दूरी यही कोई पन्द्रह किलोमीटर। पुरानी रियासत रामपुर बुशैहर से लगभग बारह किलोमीटर पीछे नगर नामक स्थान से झूले द्वारा सतलुज पार कर पांच किलोमीटर पैदल चलकर भी निरमंड पहुंचा जा सकता है। नगर के ठीक पार पहाड़ी पर निरमंड गांव है—लगभग 1200 की आबादी का एक बड़ा गांव, जो किसी समय सांस्कृतिक, राज-

नीतिक, धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। शिव, परशुराम, चंडी, अंबिका, दक्षिणेश्वर महादेव के मंदिरों में लकड़ी के दरवाजों पर की गई चित्रकारी और इधर-उधर बिखरी मूर्तियों की उत्कृष्ट कला शैली बरबस ध्यान आकृष्ट कर लेती है।

लगभग 1200 मीटर की ऊंचाई पर बसे निरमंड गांव में परशुरामजी का यह मंदिर है। यह परशुरामजी से जुड़े प्रसिद्ध स्थानों में से एक है। दूरस्थ और पिछड़े हुए पर्वतीय स्थल में होने के कारण यह जनसम्पर्क से कटा रहा। सम्भवतः इसी कटाव के कारण यह आज तक अपने मौन रूप में सुरक्षित भी है।

लगभग एक शताब्दी पूर्व इस स्थान की ऐसी उपेक्षित स्थिति नहीं थी। हर बारह साल बाद यह मंदिर खुलता था। बारह वर्ष बाद 'मुण्डा' (एक उत्सव) मनाया जाता। इसके साथ ही मंदिर के कपाट खुलते और परशुरामजी की मूर्ति लोगों के दर्शन के लिए बाहर लाई जाती। जनश्रुति है कि परशुरामजी ने बारह वर्ष के तप के पश्चात् यहां महायज्ञ किया था। 'मुण्डा' उसी परम्परा का प्रतीक है। निरमंड या नरमंड नाम को 'नरमेध' यज्ञ से भी जोड़ा जाता है।

मंदिर के कारदार श्री ख्यालीराम ने जून, 1962 (आषाढ़ प्रविष्टे 4, सं० 2019) का मुण्डा निभाया है। इससे पूर्व 28 वर्ष के अंतराल पर सन् 1933 (10 मध्धर 1990) में मुण्डा हुआ। तब भी यही कारदार थे। इससे पूर्व के जिन मुण्डों का बुजुर्ग उल्लेख कर सके हैं वे ये हैं—सं० 1975 में हुए चैत के मुण्डे में पं० गोकलराम कारदार थे। सं० 1962 के मुण्डे को पं० स्वर्णदेव ने निभाया। सं० 1949 के मुण्डे में श्री गोकलराम कारदार थे तथा सं० 1935 के मुण्डे में पं० प्रीतमदेव। ठीक बारह वर्ष बाद मुण्डा होने का उल्लेख हारकोट ने अपनी पुस्तक 'द हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स आफ कुल्लू, लाहौल स्पिति' में किया है। उनके समय में 1856 के बाद 1868 में मुण्डा हुआ।

लोकास्था के अनुसार सन् 1885 के मुण्डे में सरबणू नाम के बेडा की मृत्यु हो गई जबकि हारकोट ने 1856 के मुण्डा के दौरान बेडा के मरने का उल्लेख किया है। उनके अनुसार 1856 के मुण्डे के दौरान रस्सा टूट जाने से बेडा की मृत्यु हो गई।

मुण्डा न हो सकने का कारण धनाभाव है। इस आयोजन के लिए राजसी धन-धान्य की अपेक्षा रहती है। यज्ञ के समय हजारों नर-नारियों को भोज देने की व्यवस्था करनी होती है। धार्मिक कृतियों में व्यय होता है। पहले मंदिरों की अपनी जायदाद थी। देवी अम्बिका, परशुराम, सबकी अपनी, मंदिर की सम्पत्ति थी। अन्न-धन ग्रामीणों से भी इकट्ठा किया जाता था।

देव घाटी कुल्लू में मलाणा के बाद यह दूसरा स्थान था, जहां देवता शासक था। मलाणा में अब भी देवता जमलू (जमदग्नि) का राज्य है, जबकि यहां परशुराम अब सांकलों में कैद हैं।

जनश्रुति है कि परशुरामजी पहले यहां अपनी माता का वध करने के पश्चात् मातृऋण से उऋण होने के लिए तपस्या करने आये; दूसरी बार पृथ्वी को क्षत्रियविहीन

करने के पश्चात्। यहां उन्होंने अम्बिका माता की स्थापना की और पृथ्वी ब्राह्मणों को दान दी। परशुरामजी का यह स्थान उनके द्वारा स्थापित स्थानों में पांचवां है। दो स्थान बुशैहर में हैं— नीरथ और नग्गर। दो स्थान मंडी-सुकेत में—काओ और कुमेल। पांचवां निरमंड। कुछ लोग खेखसु, धनाओ को मिलाकर सात स्थान भी गिनाते हैं। इन स्थानों के अलावा चार 'ठहरी' हैं, जिनके नाम हैं—डणसा, लालसा, धनेरी, शिगंड़ा।

परशुरामजी की यात्रा निकलने के लिए हर बारह वर्ष बाद भुण्डा का आयोजन किया जाता था। आसपास, दूर-दूर तक खबर फैल जाती कि भुण्डा हो रहा है। इस अवसर पर दूर-दराज के इलाकों में भी कोई विवाहादि शुभ कार्य नहीं किया जाता। वर्षों पहले से तैयारियां आरम्भ हो जातीं। अमुक गांव से रस्से के लिए घास लानी है, अमुक स्थान से पेड़ काटने हैं, सब निश्चित किया जाता। लोगों से अन्न-धन इकट्ठा किया जाता।

साधन जुटाने के बाद सबसे पहले हवन किया जाता। हवन कुण्ड के पास काली माता की मिट्टी की विशाल मूर्ति बनाई जाती। यह हवन सालों तक चलता रहता। सन् 1962 के भुण्डा में यह छः मास तक चला था और उससे पहले के भुण्डा में डेढ़ साल। हारकोट ने लिखा है कि जब मूर्ति बाहर रहती है तो प्रतिदिन 40 पौंड हवन सामग्री जलाई जाती है।

इस यज्ञ में रावीं (सराहन के पास) से बुशैहर के राजपुरोहित को विशेष रूप से आमन्त्रित किया जाता है। हवन के साथ जल-जातर व बुशैहर के राजपुरोहित द्वारा भूत-प्रेतादि के शमन के लिए रेखा डाली जाती। यज्ञ में बलियां भी दी जातीं। पूर्ण आहुति के दिन जब परशुराम की मूर्ति अखाड़े में लोगों के दर्शनों के लिए लाई जाती, तो उस दिन ज्याली पड़ता।

ज्याली : मौत की लम्बी छलांग

निरमंड गांव ढलानदार पहाड़ी पर बसा है। ऊपर एक ओर ऊंची पहाड़ी है, जिसे गर्दन और मुंह के बीच 120 अंश का कोण बनाकर देखा जा सकता है। इसे ज्याई या ज्याली ढांक कहते हैं। पहाड़ी के ऊपर एक स्थान है, मीरी मखार, इस स्थान पर रस्सा बांधा जाता। रस्सा बांधने का कार्य ऊपर कथांडा गांव वाले करते। रस्से का दूसरा छोर नीचे शिव मंदिर के पीछे सरकोटी नामक स्थान पर बांधा जाता। रस्सा मजबूत और कसा होता। दूरी यही कोई दो किलोमीटर की, एकदम तिरछी उतराई। ऊपर डोह्‌ जी पर जहां मजबूत गाड़ी हुई लकड़ी से रस्सा बंधा होता, कुछ आदमी ज्याली (रस्से पर झूलने वाला आदमी) को लेकर चले जाते। वे ज्याली को लकड़ी की घोड़ी पर बिठा देते। घोड़ी के नीचे उसके बराबर भार की रेत आदि बकरे की खाल में भर-कर बांध दी जाती, ताकि संतुलन बना रहे। रगड़ से बचाव के लिए नीचे कपड़े आदि बांध दिये जाते। छाती पर भी खूब कपड़े लपेट दिये जाते ताकि नीचे दूसरे खम्भे से टकराने पर चोट न लगे। अच्छी तरह से बांधकर उसे इस तरह बिठाया जाता कि

जैसे घोड़े पर बैठा हो। केवल हाथ खुले छोड़े जाते, जिनमें झंडियां पकड़ा दी जातीं। नीचे पकड़ने की भी व्यवस्था होती थी। रस्सा विकराल अजगर-सा लगता, जिसे 'भण्डासुर' का प्रतीक भी माना जाता। निश्चित समय पर इशारा होते ही ज्याली को ऊपर से छोड़ दिया जाता और वह तेजी से नीचे गिरता चला आता।

यहां 'बेडा' नाम की एक जाति है। इस जाति के ही आदमी ज्याली बनते हैं, दूसरे नहीं। बेडा परिवार बहुत कम हैं। निरमंड में इनका एक ही परिवार है। कुछेक कुल्लू व मण्डी में हैं। इस जाति का पुरुष अपनी ही जाति में विवाह कर सकता है। कुल्लू के आसपास इस जाति को 'नौड़' कहते हैं। यहां भी ये लोग इसी प्रकार के कृत्य के कारण देवताओं से सम्बद्ध हैं। श्रावण मास में ग्राम-देवताओं के विशेष मेले लगते हैं, जिन्हें 'काहिका' कहा जाता है। इनमें नौड़ मरता है। नौड़ को देवस्थान से कुछ दूर ले जाकर चरनामृत पिलाया जाता है या तीर मारा जाता है, जिससे वह मर जाता है। पुजारी सहित कुछ आदमी उसे मृतक की भांति कंधों पर उठा लाते हैं और ढोल-ढमाके सहित मंदिर के फेरे लगाते हैं।इसके बाद उसे देवता की शक्ति से जीवित किया जाता है। यदि देववश जिंदा न हो सके तो देवता की सारी सम्पत्ति उसके परिवार वालों को मिल जाती है। परन्तु नौड़ प्राय: जी उठता है। कुल्लू के ऊपरी हिस्से में नौड़ मारने की प्रक्रिया भिन्न है।

अब ज्याली पड़ने की प्रथा पुरानी हो गई है। बासठ के मुण्डा में बकरा डाला गया था और उससे पहले भी। वैसे ऊपर आदमी ही ले जाया जाता है। आदमी डालने की प्रथा 1856 के मुण्डे में ज्याली के मर जाने के उपरान्त मण्डल के तत्कालीन कमिश्नर कर्नल लेक ने बंद करवा दी।

मंदिर से मूर्ति लाने के लिए एक जगनाहट (ब्राह्मण)तथा तीन माहते (सुनार) अंदर जाते हैं। अंदर जाने से पूर्व उनका सिर मूंड दिया जाता है, यहां तक कि भौंहें भी उड़ा दी जाती हैं। उनके मुंह में पंचरत्न डाल दिया जाता है। केवल एक वस्त्र (कफन) लपेट वे अंदर जाते हैं। एक व्यक्ति के हाथ में दीपक होता है। गुफा से वे परशुरामजी की मूर्ति, उनका फरसा, कमण्डल आदि लाते हैं। जो मूर्तियां हाथ लगती हैं, उन्हें भी ले आते हैं। मंदिर के अंदर एक ही बार जाना होता है, दोबारा नहीं। एक बार जो हाथ आ गया, उसे ही लाया जाता है। कहा जाता है, कमण्डल का पानी जो पिछले मुण्डा में विशिष्ट बावड़ी से लाकर रखा जाता है, ज्यों का त्यों बना रहता है।

हारकोट ने 1868 के भुण्डा में निकाली वस्तुओं की सूची भी दी है—40 पौंड का परशुराम का फरसा, एक गागर (कलश या कमण्डल), एक धनुष, लोहे के कुछ तीर तथा एक बहुत बड़ा कवच। 1962 में एक अंगूठी भी बाहर लाई गई थी।

मंदिर की ऊपरी मंजिल में एक हालनुमा कमरा है। इसमें कृत्रिम गुफा बनाकर मूर्ति को स्थापित कर दिया जाता है।

हर दस कदम पर बलि

अंतिम समारोह में परशुरामजी की मूर्ति को सुखपाल में बिठाकर अखाड़े तक लाया जाता है। अखाड़े में यह थोड़े समय तक लोगों के दर्शन के लिए रखी जाती है। ज्याली का पड़ना और मूर्ति का अखाड़े में आना, ये दोनों कार्य एक ही समय होते हैं। हारकोट ने लिखा है कि मूर्ति एक घण्टे तक अखाड़े में रखी जाती है। मंदिर के चारों ओर जुलूस निकलता है और हर दस कदम या बारह कदम पर बकरे, भेड़े और सूअरों की बलि दी जाती है। जैसे ही बेडा रस्से से झूलकर जमीन को छूता है, परशुरामजी की मूर्ति अन्य वस्तुओं सहित अंदर रख दी जाती है। साथ में एक दीपक तथा पानी से भरा कलश रखा जाता है। बारह वर्षों में प्रतिदिन प्रयोग के लिए दातुनें भी रखी जाती हैं।

1962 में निकली मूर्ति के बारे में प्रत्यक्षदर्शी कारदार का कथन है कि इस मूर्ति के तीन मुख हैं। मूर्ति लगभग 45 सेंटीमीटर चौड़ी और 60 सेंटीमीटर ऊंची है। इसके बाहर चांदी लगी है। अंदर से सम्भवतः किसी और धातु की बनी है। मूर्ति बैठे हुए पुरुष की मुद्रा में है। 1868 में निकाली गई मूर्ति के विषय में हारकोट ने लिखा है कि मूर्ति के हाथ में एक ताम्रपत्र है। पुजारी दृढ़ता से कहते हैं कि इस पर दाता द्वारा लिखित उनकी जागीर का अधिकार पत्र है।

किंवदन्ती है कि एक बार मुण्डा में जब मूर्ति अखाड़े में लाई गई, उधर से हमला हो गया। आक्रमणकारी असली मूर्ति ले गये। अब जो मूर्ति मंदिर में है, असली नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि कुछ साधु जो अखाड़े में पहले से डटे हुए थे, मूर्ति उड़ा ले गये और उसे देश में अन्यत्र स्थापित किया। उसके बाद भीड़ को कम करने के लिए दोनों घटनाएं साथ-साथ की जाने लगीं—एक तरफ ज्याली पड़ता है, तो दूसरी ओर मूर्ति बाहर लाई जाती है।

1962 के मुण्डा के बाद अब किसी में यह उत्सव मनाने का उत्साह नहीं रहा। मंदिरों की आय समाप्त हो गई है। ग्रामीण कई दृष्टियों से विपन्न हो गये। अब तो धूप-बाती की भी समस्या हो गई है। मंदिरों का सब कार्य ग्रामीणों पर ही निर्भर है। बाहर से कोई आय नहीं। पर्वतों को लांघ कोई धर्मयात्री यहां तक नहीं पहुंच पाता।

परशुरामजी का यह स्थान अब बंद हो विस्मृति के कगार पर है।

उन्नीस वर्ष बाद आयोजन एक नरमेध का

निरमण्ड, जिला कुल्लू के प्रसिद्ध 'मुण्डा-उत्सव' का भव्य आयोजन! ऐतिहासिक परशुराम मन्दिर के द्वार उन्नीस वर्ष बाद कुछ समय के लिए खुले। मूर्ति व अन्य सामान निकला, बन्द हुए। पुनः खुले और निकाला गया सामान अन्दर डाला गया और फिर बन्द हो गए, पता नहीं कितने वर्षों तक!

गत वर्ष भी निरमण्ड निवासियों की मुण्डा के आयोजन की योजना थी, परन्तु वादी में सूखा पड़ जाने से यह सम्भव नहीं हो सका। इस वर्ष जब जनवरी में ही ग्रामीणों ने अदम्य साहस दिखाकर इस उत्सव के आयोजन हेतु कमर कस ली तो विश्वास हो गया कि 1962 के बाद इस वर्ष परशुराम मन्दिर के द्वार अवश्य खुल जाएंगे और उत्सुकता शांत होगी। 8 फरवरी से हवनकुण्ड खुलने और तान्त्रिक पोथियों के वाचन सहित हवन के प्रारम्भ होने से मुण्डा का श्रीगणेश हो ही गया। यह एक साहसिक कदम था 'मुण्डा कमेटी' का क्योंकि उत्सव में समस्त ग्रामीणों के सारा समय व्यस्त रहने के अलावा व्यय भी एक लाख से कदापि कम नहीं होना था। देवता व देवी अम्बिका की मुआफिआं चली जाने के बाद और कारदार वाली व्यवस्था समाप्त होने के बाद इस सम्पूर्ण क्रियाकलाप को चलाने के लिए 'मुण्डा कमेटी' का गठन किया गया जिसमें पिछले मुण्डे को निभाने वाले कारदार श्री ख्यालीराम ने भी प्रमुख भूमिका निभाई। निरमण्ड व आसपास के 195 घरों से अन्न-धन एकत्रित किया गया। प्रत्येक घर से आटा, चावल, घी, जौ, मास व नकदी ली गई। पन्द्रह हजार की सहायता हिमाचल अकादमी से प्राप्त हुई। प्रत्येक घर से 32 किलो आटा, 32 किलो चावल, 500 ग्राम घी, 2 किलो जौ और 2 किलो मास लिए गए। नकदी में 30 रुपये प्रति परिवार लिया गया। जो सदस्य नौकरी में थे उनसे वेतन का 20 प्रतिशत अलग से लिया गया।

हवन के प्रारम्भ के समय भण्डार से निम्न मूर्तियां निकालकर यज्ञशाला में रखी गईं—बुद्ध, तारा, विष्णु, गणेश, महिषासुरमर्दिनी, शूलपाणी, दुर्गा की कलात्मक मूर्तियां तथा शेर के मुंह वाले दो स्टैण्ड, कलश, दो मोर तथा घण्टियां।

मंदिर के द्वार खुले

प्राचीन परम्परा के अनुसार निश्चित समय पर 31 अगस्त की रात दो

माह्‌तों—श्री विद्याराम तथा पेगाराम, एक ब्राह्मण श्री लोकनाथ मिश्र तथा दीपकधारी पलस्तराम ने मन्दिर के भीतर जाकर परशुराम की मूर्ति (?) व अन्य वस्तुएं निकालीं। श्री लोकनाथ मिश्र ने परशुराम की मूर्ति निकाली तथा अन्य दो ने शेष सामग्री।

इस बार ये वस्तुएं निकाली गईं—मोहरा या मास्क, जो बाहर से सफेद चांदी का था। पुजारी इसे परशुराम की मूर्ति बता रहे थे। पहले के भुण्डों में भी लोगों की याददाश्त के अनुसार यही मूर्ति निकाली जाती रही। इस विषय में यह भी लोकास्था है कि एक बार जब मूर्ति को अखाड़े में ले जाया गया, उधर से हमला हो गया और हमलावर (या अखाड़े में ठहरे साधु) मूर्ति ले गए। अत्र जो यह मूर्ति है, वह बाद में बनाई गई। यह मूर्ति पुरानी नहीं है, इस बात को लोकास्था पुष्ट करती है। मूर्ति के तीन मुख हैं—बीच वाला सौम्य, बाईं ओर भी सौम्य, दाईं ओर भयंकर। गले में सांप है जिसके तीन मुंह भयंकर मुख के नीचे हैं। भयंकर मुख के मुकुट में भी भयंकर मुख है। बीच के मुख में तीसरा नेत्र है। स्पष्टत: मोहरा शिव को समर्पित है। इसकी शैली वही है जिसमें वर्तमान देवताओं के मोहरे बने हुए हैं। गौर से देखने पर मोहरे में कलात्मक त्रुटियां नजर आती हैं। बीच की आंख ऐसे लगती है जैसे माथा फोड़ लगाई गई हो। इस बीच के मुख की दोनों आंखों की पुतलियां भी ठीक से एक जगह फोकस नहीं होतीं। मुख का दायां भाग बाएं से अपेक्षाकृत मोटा है। श्री मिश्र के अनुसार मूर्ति उठाने में अधिक भारी नहीं है, स्पष्टत: अन्दर पूरी तरह भरी हुई नहीं है।

शिव के इस मोहरे को देखकर रामायण का वह प्रसंग याद हो आता है जब शिव-धनुष को भंग हुआ देख परशुराम क्रोध से तिलमिला उठे थे। रामलीला में भी यह प्रसंग आकर्षण का केन्द्र रहता है।

दो मूर्तियां जिन्हें पुजारी इन्द्र-इन्द्राणी की बता रहे थे, बुद्ध की प्रतीत हो रही थीं। ये मूर्तियां अवश्य ही प्राचीन रही होंगी। इनके अतिरिक्त एक सोने का कण्ठा, कलश, कमण्डल, धनुष, दो हाथीदांत के पंखे, एक अंगूठी (जो कलाई में आ सकती है) तथा चांदी का एक थाल भी निकाला गया।

गेहूं का दाना तथा फरसा इस बार नहीं निकले। अन्दर से इन वस्तुओं को लाने वालों को कहा गया था कि वे तसल्ली से अधिकतम वस्तुएं लाएं परन्तु वे घबरा गए और यही निकाल पाये।

ये समस्त वस्तुएं यज्ञशाला के पास मन्दिर बनाकर दर्शनों के लिए रख दी गईं। सायंकाल इन्हें मन्दिर की ऊपरी मंजिल में रख दिया जाता।

ऐतिहासिक सन्दर्भ

मन्दिर के इतिहास का एक प्रामाणिक सबूत ताम्रपत्र है जिसका उल्लेख हारकोट ने भी किया है। पिछली बार यहां आने पर ज्ञात हुआ था कि एक सज्जन इसे पढ़वाने के लिए बाहर ले गए हैं। इस बार भी ताम्रपत्र के दर्शन न हो सके।

मन्दिर के ऐतिहासिक तथ्यों की खोज में लगे युवा वकील श्री महेन्द्रप्रकाश से

कुछ जानकारी हासिल हुई। उनके पास इस ताम्रपत्र की कागज पर उतारी प्रतिलिपि मौजूद थी। ताम्रपत्र 32×20 सें० मी० है जो संस्कृत भाषा किन्तु अन्य लिपि में खुदा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि यह लिपि छठी-सातवीं ईस्वी की उत्तरी भारत में प्रचलित लिपि से मिलती है।

कनिंघम ने इस ताम्रपत्र को बारहवीं शताब्दी का माना जबकि डा० जे० एफ० फ्लीट ने इसे सातवीं शताब्दी का सिद्ध किया।

ताम्रपत्र में उल्लेख है कि कपालेश्वर मन्दिर महाराज सर्ववर्मन द्वारा बनवाया गया और इसमें समुद्रसेन की माता परमदेवी महाभट्टारिका मिहिरलक्ष्मी ने मिहिरेश्वर की मूर्ति की स्थापना की। मिहिरेश्वर की पूजा-अर्चना के लिए महाराजा समुद्रसेन ने शूलिश ग्राम और उससे संलग्न भूमि व जंगल निरमण्ड के अथर्ववेदी ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में दिया।

इस पत्र की तिथि शुदी दस, वैशाख मास, सम्वत् छः है।

लेख में चार महासामन्त महाराजाओं की वंशावली दी है—वरुणसेन, संजयसेन, रविसेन और समुद्रसेन।

निरमण्ड के सेनवंश, राजा सर्ववर्मन के विषय में इतिहास खामोश है। क्या ये स्वतन्त्र शासक थे, या किसी के अधीनस्थ सामन्त, यह स्पष्ट नहीं है। लोकास्था के अनुसार इनका सम्बन्ध शकों के विकट शत्रु विक्रमादित्य से था, जो सत्य के निकट है।

एच० सी० शैटलवर्थ ने 1919 के भुण्डे में रानी के एक हैड-मैंटल के निकलने का उल्लेख किया है जिसमें एक संस्कृत लेख में सम्वत् सात लिखा है। इसी में एक लेख टांकरी में है जो सम्भवत: बाद में लिखा गया। भुण्डा के पिछले रिकार्ड में एक जगह एक मोती हार का जिक्र आता है जिसमें सम्वत् 749 लिखा है।

यदि ये सूचनाएं सही हैं तो यह ज्ञात नहीं होता कि कपालेश्वर मन्दिर का संबंध परशुराम मन्दिर से कैसे जुड़ गया जो लोकास्था के अनुसार त्रेतायुग में स्वयं यहां आए और ब्राह्मणों को भूमि दान की। सूलिश ग्राम का सम्बन्ध निरमण्ड से संलग्न शिश्वी गांव से जोड़ा जाता है। बुजुर्गों के अनुसार कभी ये दोनों गांव एक ही थे और शिश्वी से बिल्ली छत्तों पर बैठती हुई निरमण्ड आ पहुंचती थी।

कपालेश्वर मन्दिर के परशुराम मन्दिर में बदलने के पीछे एक अज्ञात इतिहास है। इस उत्सव के अन्त में नाथ-सम्प्रदाय के एक आदमी को मुंह रंगकर मशालें लेकर गांव की सीमा के बाहर खदेड़ा जाता है। यदि कभी कपालेश्वर मन्दिर का सम्बन्ध नाथ-सम्प्रदाय से रहा हो तो यह ब्राह्मणों द्वारा नाथों को खदेड़े जाने का प्रमाण है। समय के अनन्तर ब्राह्मणों से इस मुआफी की जमीन को अपने नाम करवा लिया। ऐसा कहा जाता है कि 1868 के बंदोबस्त में ब्राह्मणों ने यह जमीन अपने नाम करवा ली। परशुराम मन्दिर का भवन उतना पुराना तो कदापि नहीं है, जिस गुप्तकालीन युग का उल्लेख ताम्रपत्र में है। यद्यपि मन्दिर के भीतर की मूर्तियां अवश्य उस युग से सम्बन्धित हो सकती हैं। अत: त्रेतायुग की किंवदन्ती से पर्दा तभी हट सकता है जब पुष्ट तथ्य मिल

जाएं। मुख्यत: ऐसा प्रतीत होता है कि ये महासामन्त मौर्य व गुप्त साम्राज्य के करद थे।

भण्डासुर या भण्डारा

मुण्डा को ब्रह्माण्ड पुराण के राक्षस भण्डासुर से भी जोड़ा जाता है। उस रस्से को जिससे आदमी लुढ़काया जाता है, भण्डासुर का प्रतीक माना जाता है। वैसे लोक-भाषा में 'मुण्डा-लगणा' एक मुहावरे के रूप में प्रयोग में आता है जिसका अर्थ 'भण्डारा' से लिया जाता है। पहले ये मुण्डा उत्सव परशुराम मन्दिर में देवी अम्बिका के सौजन्य से होता रहा क्योंकि मुआफी देवी अम्बिका की ही थी।

वास्तव में मुण्डा बारह वर्ष के बाद का यज्ञ है। इस बीच अन्य तीन उत्सव शांद, भदपूर तथा भण्डोजी होते थे। ये उत्सव तीन-तीन वर्ष बाद होते जिससे मुण्डा की बारी बारह वर्ष बाद आती। शांद, भदपूर या पूर जैसे उत्सव कुल्लू की ओर भी होते हैं। पाराशर मन्दिर में कमांदी-पूर नाम से एक उत्सव हर वर्ष होता है। नामों तथा मनाने की विधियों के प्रकारान्तर से ये उत्सव हिमाचल के ऊपरी हिस्सों में कमोबेश एक ही तरह से मनाये जाते थे।

8 सितम्बर को जब मैं वहां पहुंचा, प्रथम समारोह 'दिया भरना' हो चुका था। इस दिन देवताओं को आमन्त्रित किया जाता है। आज से ही मुख्य उत्सव की शुरुआत थी, जो 13 सितम्बर, 1981 तक चलना था।

स्वागत-समारोह

9 सितम्बर, 1981। प्रात: ही चारों ओर से घंटियों, रणसिंगों, ढोलों की आवाजें आने लगीं। घाटियां दैविक संगीत से गूंज उठीं। आमन्त्रित देवता आने आरम्भ हो गए थे। एक देवता के आने का अर्थ था—देवता का कलश, बाजा, गूर, पुजारी, कारदार तथा साथ पूरा का पूरा गांव, सैकड़ों आदमी। इस समारोह में देवताओं के रथ नहीं आते बल्कि कलश या एक प्रमुख मोहरा ही लाया जाता है। समारोह में परशुराम द्वारा बसाए स्थानों, ठहरियों तथा जिन स्थानों, जिन देवताओं के यहां मुण्डा होता है, उन्हें आमन्त्रित किया जाता है। बिना बुलाए कोई देवता नहीं आता। इसमें पांच स्थानों (परशुराम समेत), चार ठहरियों, चार चम्मु, आठ फरशियां (देवियां), नाग आदि को बुलाया जाता है।

सबसे पहले देवता के कलश बाजों सहित परशुराम मन्दिर की ओर जा रहे थे। फिर अपने ठहरने के स्थान में लौट जाते। स्वागत-समारोह में आने से पूर्व देवता को आने के लिए राजी करना होता है। परशुराम की ओर से आमन्त्रित देवता को भेंट (नकदी आदि) दी जाती है जिसे वे बढ़-चढ़कर लेना चाहते हैं और किसी निश्चित भेंट पर समझौता हो जाता है।

लगभग तीन बजे स्वागत-समारोह आरम्भ हुआ। एक ओर परशुराम का बाजा, देवी व परशुराम के पुजारी आदि खड़े हो गए। इस अवसर पर प्रदेश के शिक्षामन्त्री

श्री शिवकुमार उपस्थित थे। उन्हीं द्वारा स्वागत करवाया जाना था। सबसे पहले अपने बाजे सहित नीरथ का देवता आया, फिर नगर का। आसपास दर्शकों का अपार समूह एकत्रित था। इस समारोह में बस दो ही देवता आए जिनके कलशों को अखाड़े में बनाए मण्डप में रख दिया गया। अखाड़े में गोलाकार मण्डप में आमन्त्रित देवताओं के कलश रखने के लिए कुल तीस स्थल बनाए गए थे। इन दोनों देवताओं के कलशों से पहले ही दो अन्य कलश रख दिए गए थे। इन दो कलशों के प्रतिनिधि देवता नहीं आए थे परन्तु वरिष्ठता के अनुसार इनके कलश पहले रखे जाने थे।

शेष देवता नहीं आए। इन्तजार में शाम हो चली। पता चला कि उनसे भेंट आदि के मामले में समझौता नहीं हो पा रहा था। आखिर जब वे आए तो खासी भगदड़ मच गई। अखाड़े में प्रवेश के लिए छोटा-सा रास्ता था और देवता के कलश सिर पर उठाए लोग थे कि एकबारगी ही घुस आना चाहते थे। इसी धमाचौकड़ी में कइयों के कलश गिरने को हुए, कई आदमी चित हो गए। यही झगड़ा अखाड़े में हुआ। अपनी वरिष्ठता के आधार पर शान्ति से बैठने के बजाय वे आगे-आगे स्थान हथियाने की कोशिश में थे। कइयों ने सौंपी जगह स्वीकार नहीं की। एक-दो बार तो अच्छा झगड़ा हो गया। बड़ी कठिनाई से मेजबानों ने सबको मनाकर बिठा दिया। इसी क्रम में उन्हें मन्दिर की ऊपरी मंजिल में बैठना था।

यहां सबकी उपस्थिति में एक हस्तलिखित पुस्तक 'प्रौढ़' पढ़ी गई जिसमें सृष्टि के आरम्भ से लेकर विक्रमादित्य तक का उल्लेख किया गया है। पुस्तक के समाप्त होने से पूर्व ही कलश उठा लोग मन्दिर की ओर भाग खड़े हुए, जहां ऊपरी मंजिल में उन्हें विदाई तक रखा जाना था।

मन्दिर के ऊपरी हाल में, जहां केवल धोती पहनकर जाना होता था, एक वेदी में सोलह कलश रखे हुए थे। इन सोलह में दो तो प्रतीक मात्र थे, जो दो देवता कारण-वश नहीं आए थे। दीवार के साथ चार चम्मुओं के मोहरे तथा एक अन्य मोहरा प्रतिष्ठित था। ऊपर कुल उन्नीस देवता थे। जो देवता ऊपर नहीं बैठ सकते थे, वे यज्ञ-शाला के पास जमे थे। यज्ञशाला के साथ ही एक देवता का रथ था। यह देवता बछौर (आनी) का काली नाग था जिससे पूछकर यज्ञ के लिए पात्री (जड़ी) लाई जाती है। यज्ञशाला के भीतर एक मोहरा तथा तीन कलश थे। इस गिनती के अनुसार कुल चौबीस देवता पधारे थे।

देवता के साथ आए अन्य आदमी अलग-अलग जगहों पर ठहरे हुए थे। देवता का बाजा, गूर आदि भी वहीं थे। रामगढ़ से आए एक देवता नाथली नाग का निशान चांदी की एक कड़ाही मात्र थी। यह बारह गांवों का देवता था। कुल्लू के विपरीत इस ओर के देवताओं के गूर बाल व दाढ़ी, दोनों रखते हैं। कुल्लू की ओर गूर केवल बाल रखते हैं। इस नाग देवता का चौबीस वर्ष तक कोई गूर न बन सका। दादा के बाद चौबीस वर्षों के अन्तराल के बाद पोता सोह्णलाल गूर निकला। यहां गूर बनने को आया हुआ व्यक्ति जलती आग में छलांग लगाता है। आवेश में आने पर उसको आग

का असर नहीं होता। अन्य लोग उसे घसीटकर आग से निकालते हैं। फिर इसे कन्धे पर बिठाकर ले जाया जाता है और देवता के स्थान में गद्दी पर बिठाया जाता है। इस अवसर पर बारह गांवों के आदमी एकत्रित होते हैं। नाटी के अढ़ाई फेरे लगाए जाते हैं। अब गूर दाढ़ी व बाल नहीं मुंडवा सकता। जटाओं में उसे घी लगाना होता है। वह चमड़े के बूट नहीं पहन सकता। टांगों में केवल धोती पहन सकता है। हल पकड़ना उसके लिए निषेध हो जाता है।

जल-जातर

10 सितम्बर, जल-जातर का दिन था। सौभाग्यवती नारियों का पर्व ! चण्डी मन्दिर के नीचे रास्ते के साथ एक बावड़ी है। बावड़ी में लगे मुख से बूंद-बूंद पानी गिर रहा था। सभी उस पानी को आश्चर्य व श्रद्धा से देख रहे थे। ऐसा विश्वास है कि भुण्डा के समय इसमें गंगा के समान जल प्रकट होता है। जब मैं कुछ महीने पूर्व निरमण्ड गया था तो बावड़ी सूखी थी। कुछ सम्बन्धित व्यक्तियों से यह भी ज्ञात हुआ कि बावड़ी के पीछे नाली की खुदाई की गई है और जल-स्रोत जो दबा पड़ा होने से दूसरी दिशा में चला गया था, पुनः बावड़ी की ओर कर दिया गया। फलस्वरूप बूंद-बूंद पानी गिरने लगा।

इसी पानी में जल-जातर होनी थी। जल-जातर पतिव्रता स्त्रियों का त्यौहार है। सौभाग्यवती नारियां पारम्परिक वेशभूषा व आभूषणों से सुसज्जित बावड़ी में घुसती हैं। बावड़ी के मुख के नीचे भरने रखे कलश की पूजा करती हैं, फिर पानी के बीच से आकर दूसरी ओर नौ कन्याओं का पूजन करती हैं। पानी में जिस नारी का घघरा फूल जाए, वह पतिव्रता नहीं समझी जाती। परन्तु इस घुटनों तक के सतही पानी में धीरे-धीरे उतरती स्त्रियों के घघरे फूल जाने की सम्भावना बहुत ही कम थी। ऐसा भी कहा जाता है कि पहले इस परीक्षा से पूर्व स्त्रियों को उबलते कड़ाह में हाथ डालना होता था। जल-जातर के लिए चुने हुए परिवारों से स्त्रियां आती हैं और अपनी वरिष्ठता के अनुसार पूजन करती हैं। इस बार कुल 52 स्त्रियां इस समारोह में सम्मिलित हुईं।

इस कलश का पानी मन्दिर बंद होने पर मूर्तियों सहित भीतर रखा जाता है जो बारह वर्ष बाद या जितने वर्षों बाद भुण्डा हो, पुनः निकाला जाता है। पानी वैसा ही रहता है, ऐसा विश्वास है। जो इस भुण्डे में कलश बाहर निकाला गया, वह 1962 के भुण्डे में रखा गया था।

उत्सुकतावश मैं भी इस बावड़ी से एक बोतल में पानी भरकर लाया था। इस पानी में कुछ धूल भी शामिल थी क्योंकि भुण्डे के दौरान चारों ओर धूल ही धूल हो गई थी। वह धूल बोतल की तह में बैठ गई। बोतल का पानी अभी तक साफ का साफ है।

शिखफेर

11 सितम्बर की शिखफेर ! गूर का एक आदमी के कन्धे पर सवार हो गांव का फेरा लगाना और मंदिर वापस आकर शिखा पर चढ़ना। यह कार्यक्रम गांव के भीतर दुष्टात्माओं के प्रभाव की वर्जना के लिए था। यह एक लक्ष्मण रेखा ही थी जो गूर ने लगानी थी।

शिखफेर का उत्सव झगड़े से ही आरम्भ हुआ और झगड़े के साथ ही समाप्त हुआ। शिखफेर बारह बजे के लगभग आरम्भ हो जानी थी किन्तु दो बजे तक कुछ भी निश्चित नहीं हो सका। पहले ये नहीं तय हो पा रहा था कि कौन से देवता का गूर शिखफेर के लिए निकलेगा। इसमें भी वरिष्ठता के आधार पर गूर आता था। ऐसा कहा जा रहा था कि पहला अधिकार बैंहना का है, दूसरा नीथर का, तीसरा चम्भु में से कोई। कुछ इस क्रम को नीथर, बैंहना, चम्भु—इस तरह से बता रहे थे। यदि पहले देवताओं का कोई गूर न हो तो दूसरों का नम्बर लग जाता है। हरिजन गूर भी नहीं उठाया जाता क्योंकि उठाने वाले खश या राहू (राजपूत) होते हैं। अंत में चम्भु में से ढरोपी का गूर देवता बन शिखफेर के लिए तैयार हो गया।

मंदिर की ऊपरी मंजिल से गूर उतरा, नीचे खड़े तीन अन्य गूरों ने, जो काली, बीर और लाटै-मशाण के बताए गए, छेरना आरम्भ कर दिया यानी उनमें देवता आ गया था। इनमें काली का गूर बहुत उछल-कूद मचा रहा था। उसके खुले हाथों में सिंदूर डाल दिया जिसे उसने माथे में डाल लिया।

गूर को उठाने की समस्या जो आन खड़ी हुई थी, अब सुलझ गई थी। जिस गांव के लोगों के जिम्मे पहले से यह कार्य रहा है, वे आनाकानी कर रहे थे। इसी झगड़े के कारण विलम्ब हुआ था। मुख्य द्वार के बाहर गूर को कन्धे पर उठा लिया गया। दूसरे तीनों गूर पैदल चल रहे थे। वहीं एक बलि दी गई और साथ चले बंदूकधारी ने पटाखा चलाया। इस जगह फिर कुछ झगड़ा हुआ, सम्भवतः बलि के बकरे को लेने की बाबत, जो कुछ देर बाद समाप्त हो गया।

ढरोपी का गूर उगमराम, जिससे जब पहले भेंट हुई थी, झट से देवता के रथ के पास मुद्रा बना फोटो खिचवाने बैठ गया था। उस समय निरमण्ड में ठिरशु मेला हो रहा था जिसमें देवता सहित यह गूर आया हुआ था। परन्तु आज तो उसका दिन था। वह देवता बना कन्धे पर सवार था। मंदिर से बाहर निकलते ही उसने फोटो खींचने वालों को हटाने का आदेश दिया। फलतः कई उंगलियां इनकारमय मुद्रा में झूलने लगीं। अब छिपकर फोटो लेने के सिवा कोई चारा न था।

इस शोभायात्रा में अनेक स्थानों पर बकरों, मेमनों, भेड़ों, सूअरों की बलियां दी जाती थीं। इस बार बकरे कम होने के कारण बलियां कम दी गईं, फिर भी जहां गूर अड़े जा रहा था, बकरे की मौत निश्चित थी। गूर के साथ पुजारी पुरानी मृगछाला पहने और हाथ में तलवार लिए चल रहा था। जगह-जगह बंदूकधारी पटाखे करता जा

रहा था। गूर सब ओर चावल फेंक रहा था। एक आदमी किलटे में डाले जौ फेंक रहा था।

मंदिर में वापसी पर गूर तथा तलवार लिए आदमी मंदिर के शिखर पर चढ़ गए। चारों दिशाओं में चार मशालों वाले खड़े हो गए। तलवारधारी पूजन कराने लगा। छत पर ही दो बकरे चढ़ाकर काट दिए गए। बस, फिर से बकरों ने झगड़ा डाल दिया। हुआ यह कि काटने के बाद दोनों बकरों के शव मंदिर के पिछली ओर ठहरे गांव वाले लुढ़काकर ले गए जबकि एक बकरा वे लोग चाह रहे थे जिन्होंने गूर को उठाया हुआ था। वे मशालें लिए हुए थे। आवेश में आकर वे मशालें फेंक नीचे उतर आए। गूर को उठाने वाला भी कुछ देर धर्मसंकट के कारण टिका रहने के बाद नीचे आ गया। गूर व मृगछाला पहने आदमी छत पर दोनों टांगें आर-पार फैलाये बैठे रह गए। गूर की हालत अब पतली होती जा रही थी, यह दूर से ही स्पष्ट हो रहा था। बैठे-बैठे वह थक गया था। अब भी उसमें देवता समाया होगा, यह शंका वाली बात थी। अंत में मृगछाला वाले ने पूजा का पटड़ा नीचे गिरा दिया और स्वयं उठकर गूर को उठा दिया और नीचे उतार लाया। जो तीन गूर नीचे एक ओर खड़े थे और पता नहीं देवता के होने से या यह दृश्य देखकर ही कांप रहे थे, उन्हें भी टोपियां पहना देवता से मुक्त कर दिया गया।

शिखफेर की भांति गूरों द्वारा यह प्रक्रिया कुल्लू में भी की जाती है, जो प्रायः रात को होती है।

शोभायात्रा : ज्याई का बलिदान

12 सितम्बर, अंतिम समारोह !

अंतिम समारोह में तीन-चार कार्यक्रम एक ही दिन हुए—परशुरामजी की *शोभायात्रा का अखाड़े तक निकलना, ज्याई का पड़ना, नाथ का गांव-निकाला और* पूर्ण आहुति। देवताओं को विदाई जो अगले दिन दी जानी थी, वह भी उसी शाम दे दी गई।

परशुरामजी की मूर्ति पालकी में डालकर अखाड़े में स्थापित करनी थी जहां ठहरे साधु इनका दर्शन करते हैं। आज के दिन गांव की स्त्रियां भी अखाड़े में जा सकती हैं। वैसे उनके लिए अखाड़े में जाना वर्जित है।

बारह बजे के आसपास ज्याई (बेडा जाति के जिस आदमी की बलि दी जाती थी), जिउणूराम आ गया। नहलाकर उसे चोला पहनाया गया। इन दिनों वह नियम से रहता है। वह दाढ़ी भी बढ़ाए हुए था। यज्ञशाला में बैठ उसने अपने जीवन का संकल्प लिया।

ज्याई को भी एक आदमी उठाकर ऊपर ले जाता था, जहां रस्सा बांधा जाता है। इस बार वह पैदल गया। उसे उठाने वालों का मत था कि वह स्वयं तो रस्से में झूल नहीं रहा है। यदि स्वयं रस्से से झूलता तो उठाकर ऊपर ले जाते। ज्याई बाहर भागा।

किंतु भागते-भागते भी वह अपने हिस्से के बकरे को मंदिर के साथ ही अपने घर में छोड़ता गया। ज्याई के ऊपर भागने के साथ एक बहुत बड़ा काफिला उसके पीछे हो लिया। शिव-मंदिर के ऊपर की ओर पहाड़ी पर दो पोल पहले ही गाड़ दिए गए थे। रस्सा भी पहुंचा दिया गया था। इस बार रस्सा लगभग तीस मीटर लम्बा था और मूंज की कमी के कारण इतना ही रस्सा बंटा जा सका था ज्याई द्वारा। पिछली बार रस्सा इससे कुछ लम्बा था और पहले तो दो-ढाई सौ मीटर लम्बा होता था। रात को बारह बजे इस रस्से को बावड़ी में भिगोया गया था।

एक कपड़े की आड़ करके रस्सियों द्वारा रस्से पर लकड़ी की घोड़ी बांध दी गई। घोड़ी के नीचे रस्से जितनी जगह थी। दो लकड़ियां आगे-पीछे लगा दी गई थीं। मंदिर में कुछ घोड़ियां ऐसी भी देखीं, जो बीच से जली हुई थीं। जब ऊपर से ज्याई छोड़ा जाता था तो कई बार घर्षण से आग लग जाती थी। इसके लिए पीछे एक पानी का पात्र भी बांध दिया जाता था जिससे आग बुझ जाए। रस्से के चारों ओर कपड़ा लपेटा जाता था ताकि फिसलती बार गति कुछ कम हो जाए। निचले पोल पर भी कपड़े बांधे जाते थे। इस बार ऐसी कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि घोड़ी पर बकरा बांधना था। निचले पोल के पास बकरे के लिए रोने वाला भी कोई न था, जहां ज्याई की पत्नी बाल बिखेर रुदन करती थी।

चिल्लाते हुए बकरे को घोड़ी पर बांध दिया जाता। एक क्षण के लिए ज्याई उस पर चढ़ा और उतरा। बस पलक झपकते ही बकरा निचले पोल से जा टकराया। जल्दी से इसे खोल दिया गया। बकरा जीवित था। लोग जा-जाकर उसके आगे नत-मस्तक हो रहे थे। *बकरे का बच जाना शुभ समझा जाता है। ऐसे ही जब ज्याई बच* जाता होगा तो खुशियां मनाई जाती होंगी।

नीचे वापस पहुंचने तक मूर्तियां पुनः मंदिर में रख दी गई थीं। वहां अब साधु आ डटे थे। नाथ, जिसे गांव से बाहर निकालना था, ऊपर ले जाया गया। थोड़ी देर बाद वह नीचे उतरा तो उसका मुंह बुरी तरह रंगा हुआ था। मशाल वालों ने मशालें लगाकर उसे भगाया और गांव से बाहर कर दिया। ऐसा विश्वास है कि नाथ अपने साथ गांव से दुष्टात्माएं ले जाता है।

अब इसका अंतिम दृश्य था, समस्त निकले हुए सामान को पुनः अंदर रखना और दरवाजे की सांकलों को अगले भुण्डे तक बंद कर देना, जो पता नहीं कब हो!

उत्सव के बाद मूर्तियों की चोरी पर लेखकीय प्रतिक्रिया

भुण्डा उत्सव और मूर्तियों की चोरी

परशुराम मंदिर में सितम्बर, 1981 के भुण्डे के बाद भीतर की वह समस्त सामग्री चोरी हो गई, जिसके प्रति लोगों की इतनी आस्था, इतना आकर्षण व उत्सुकता थी। वह सब भीतर ही भीतर गायब हो गया और आस्थावान् लोग निश्चित बैठे रहे। मंदिर के द्वार, जिन्हें खोलने के लिए श्रमसाध्य उत्सव करना पड़ता था, देखने में बंद ही रहा किन्तु भीतर की सामग्री धीरे-धीरे बाहर आती रही।

मुख्य द्वार के भीतर अंधियारे गलियारे में खड़ी मूक प्रहरी हिरबणी की विशालकाय मूर्ति खामोश खड़ी रही और भीतर सबकुछ खाली होता गया। बाहर खड़ा मूक प्रहरी पत्थर हो गया। लोगों की आस्थाएं निराधार रह गईं।

जब मैं पहली बार निरमण्ड गया था, तब भी कुछ ऐसा आभास हुआ था। जो मूर्तियां वहां बाहर उपेक्षित पड़ी थीं, जो रहस्यमयी गुफा में छिपी थीं, या जो अन्य मंदिर में थीं, लगता था सुरक्षित नहीं हैं। दक्षिणेश्वर महादेव के दरवाजे के विषय में भी वहां ऐसी बात सुनी थी। इस दरवाजे पर की गई नक्काशी अद्वितीय है। ग्रामीणों ने एक अंग्रेज महिला का उल्लेख किया जो इस दरवाजे को 15,000 रु० तक की कीमत अदा कर मांगती रही। उसने ऐसा भी कहा कि वह यहां ऐसा ही दरवाजा बनवाकर लगवा देगी। न जाने क्यों उस समय भी ऐसा लगा था कि यहां से कुछ-न-कुछ जरूर जाता रहेगा। आशंका इसलिए भी थी कि इस उपेक्षित मंदिर की समस्त देखभाल मात्र एक साधु करता है।

परशुराम मंदिर से चोरी का समाचार सुना तो लगा एक चिरप्रतीक्षित घटना हो गई है।

ऐसा कहा जाता है इससे पूर्व सिक्खों के आक्रमण के समय भी निरमण्ड के मन्दिरों से आभूषण लूट लिए गए थे। चण्डी मन्दिर में उस समय उतने ही आभूषण थे जितने कि अम्बिका मन्दिर में हैं। हमलावर, जिन्हें 'सिंध-मण्डयाल' कहा जाता है, सोना-चांदी लूटकर ले गये और अब वहां केवल पाषाण-मूर्तियां शेष हैं।

इस चोरी का पता ही न चलता यदि रामपुर के सराहन में एक बैंक अधिकारी की हत्या के मामले में कुछ अभियुक्त न पकड़े होते। हत्या की जांच के दौरान इन दो अभियुक्तों पर पुलिस को सन्देह हो गया क्योंकि ये रातोंरात मालदार बनते जा रहे थे।

लीलादेव तथा कुंगा उर्फ प्रेमसिंह से पूछताछ के दौरान हत्या का सुराग तो न मिला, निरमण्ड के परशुराम मन्दिर की मूर्तियों की चोरी का रहस्योद्‌घाटन हो गया। लीलादेव निरमण्ड का ही था जो मन्दिर के भेद से वाकिफ था। जब इस चोरी के मामले में निरमण्ड के थानेदार से सम्पर्क किया गया तो इनके पास इस चोरी से सम्बद्ध कोई रिपोर्ट दर्ज न थी। पुलिस ने मन्दिर के प्रबन्धकों से सम्पर्क किया तो निरीक्षण के बाद पता चला कि वास्तव में ही मूर्तियां व आभूषण गायब थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये मूर्तियां व आभूषण कई दिन पूर्व चुराये गये थे और चोरों ने बड़े इत्मीनान से कार्य किया और मन्दिर में एक नहीं, पांच बार गये। उक्त व्यक्तियों के अलावा पुलिस ने रामपुर के चन्द्रमणी तथा पूह के कुक्कू उर्फ दुर्जे को भी गिरफ्तार किया। एक तिब्बती शरणार्थी तथा लाहौलवासी भी पकड़े गये।

इस मामले में अब तक सात अभियुक्त पकड़े जा चुके हैं, एक की तलाश जारी है। मूर्तियों की पहचान के लिए स्थानीय लोगों की सहायता ली गई और दिल्ली के मजनू टिल्ला में तिब्बती बस्ती, जनपथ, लालकिला मन्दिर, चांदनी चौक आदि स्थानों से बरामद की गईं।

मन्दिर का ताला, जो श्रद्धालुओं द्वारा मुण्डा के समय तेल डाल-डालकर भी न खुलता था, चोरों ने एक मामूली स्क्रू से खोल निकाला और अगला मुण्डा होने से पहले ही मन्दिर के द्वार खुल गये। एक बार नहीं, पांच बार खुले भी, बन्द भी हुए। न कोई मुण्डा हुआ, न कुछ। किसी को कानोंकान खबर न हुई और भीतर से निकाली सामग्री जन-दर्शनों के लिए दिल्ली पहुंच गई।

वास्तव में मुण्डा होने के बाद मन्दिर के द्वार तो बंद ही रहते हैं, अतः इस ओर कोई नहीं जाता। भूले से कोई बाहरी व्यक्ति देखने आ भी जाए तो वह ऐसा सोचकर टल जाता है कि देखना क्या, मन्दिर के द्वार तो बंद ही हैं। इसी उपेक्षा का लाभ उठाकर चोरों ने स्थानीय व्यक्ति की सहायता से इत्मीनान से काम किया।

मूर्तियों व दुर्लभ सामग्री की बरामदगी का श्रेय कुल्लू पुलिस को जाता है। कुल्लू जिला के पुलिस अधीक्षक श्री भागसिंह बताते हैं कि अब तक पचास मूर्तियां बरामद हो चुकी हैं—27 एक बार, 11 दूसरी बार तथा 7 तीसरी बार। इन मूर्तियों को पहचान लिया गया है, ये परशुराम मन्दिर की हैं। शेष पांच मूर्तियों की पहचान न हो सकी कि ये परशुराम मन्दिर की ही हैं या किसी अन्य मन्दिर की।

मुण्डे के दौरान निकाली गई परशुराम की त्रिमुखी मूर्ति का बाहरी चांदी का खोल भी चोरी हो गया है। इसके अतिरिक्त चांदी की सुराहियां भी चोरी हुईं। कुल 9 सुराहियां थीं, जिनमें से 5 चोरों द्वारा गलाई जा चुकी थीं।

सोने-चांदी में अब तक 15.200 किलोग्राम चांदी बरामद की जा चुकी है। 4 किलोग्राम ताम्बा, सोना व कीमती पत्थर भी बरामद हुए। इन समस्त वस्तुओं का मूल्य 4,08,153 रुपये (चार लाख आठ हजार एक सौ तरेपन रुपये) आंका गया है।

मूर्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण रानी की आवक्ष प्रतिमा है जिस पर दो लेख हैं।

लम्बा लेख संस्कृत में और छोटा टांकरी में। संस्कृत लेख में 10 आषाढ़ सम्वत् सात खुदा है। इसी रानी के हेड-मैटल के निकलने व इस पर सम्वत् सात लिखे होने का चर्चा 1919 के मुण्डे के दौरान शैटलवर्थ ने भी किया है।

यह निश्चित है कि मूर्तियों की चोरी की प्रेरणा गत मुण्डा से ही मिली। जो सामग्री गत मुण्डा में बाहर निकाली गई, वह पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तो थी ही, साधारण व्यक्ति के लिये भी उसमें सोने-चांदी की ललक थी। चांदी की छड़ियां, सुराहियां, परशुराम की मूर्ति के गले में सोने का कण्ठा आदि ऐसी वस्तुएं थीं, जो मूर्ति-चोरों के अलावा अन्यों के लिए भी आकर्षण थीं।

हिमाचल में और विशेषतः कुल्लू में इस दुर्लभ सामग्री का संरक्षण एक कठिन कार्य है। परशुराम मन्दिर की तरह और भी ऐसे मन्दिर हैं जिनके भण्डारों में पड़ी सामग्री का कोई लेखा नहीं है। उदाहरणतः एक बार मलाणा के मन्दिर के भण्डार में चोरी हुई। चोरी की रिपोर्ट पुलिस में दर्ज करवाई गई। जो अदालत में मलाणियों का सम्भवतः पहला मुकदमा था। परन्तु यह किसी को ज्ञात न था कि कितनी सम्पत्ति की चोरी हुई है और क्या-क्या चोरी हुआ है। वहां भी भण्डार में कोई नहीं जाता। विपत्ति के समय भण्डार से धन निकाला जाता है। ऐसे समय में कारदार आंखों में पट्टी बांध अन्दर जाता है। फलतः पुलिस के लिए यह अन्दाजा लगाना कठिन हो जाता है कि क्या चोरी हुआ है और क्या बरामद किया जाये। निरमण्ड में भी मुण्डों के समय निकली सामग्री को स्थानीय लोगों ने न देखा होता तो पहचान कठिन थी। इसमें यह भी सम्भाव्य है कि अभी भी समस्त सामग्री बरामद न हुई हो क्योंकि भण्डार में क्या-क्या था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। पहचान उसी की सम्भव है जो गत मुण्डों में बाहर निकाला गया है और बुजुर्गों ने देखा है या जिसका कहीं उल्लेख प्रकाशित हुआ है।

इन मन्दिरों, भण्डारों के प्रति पुरातन काल से लोगों की आस्था रही है। हारकोट ने एक शताब्दी पूर्व की निरमण्ड की इस लोकास्था का उल्लेख किया है कि क्षत्रियों के संहार के बाद परशुराम ने नर्वदा तीरे पांच गांव, पांच गांव सतलुज तीरे तथा चार गांव व्यास तीरे ब्राह्मणों को दान में दिये। सतलुज के किनारे के गांव थे—काओं, मुमेल, नीरथ, नगर और निरमण्ड। दाता ने अपनी जागीरों की सीमाएं नियत कीं और ताम्रपत्र दिया जो कि निरमण्ड के पुजारियों के अनुसार आज भी उनके मन्दिर में मौजूद है। परशुराम ने निरमण्ड के ब्राह्मणों को अम्बिका की प्रतिमा भी दी तथा त्रैमासिक उत्सवों की नींव रखी, जो आज तक मनाये जाते हैं।

यद्यपि निरमण्ड की चोरी से इस मान्यता को ठेस लगी है किन्तु यह अभी भी सम्भव नहीं है कि मलाणा के मन्दिर जैसे भण्डारों को निर्भयतापूर्वक स्थानीय लोग खोलें और नकदी या वस्तुओं की सूची बनाकर किसी जिम्मेवार कमेटी को सौंपें।

कुल्लू के मन्दिरों, देवताओं के पास बहुत-सी ऐसी दुर्लभ वस्तुएं हैं जो पुरातत्त्व की दृष्टि से एक मील का पत्थर सिद्ध हो सकती हैं। देवता के अनेक मोहरों पर लेख अंकित हैं। मन्दिर के भीतर ऐसी मूर्तियां हैं जिन्हें पुजारी या कारदार के सिवा कोई

देख ही नहीं सकता। इन्हें या पुजारी देख सकता है या कारदार। मन्दिर के भीतर कई जगह केवल पुजारी ही जाता है, जैसे कमांद का पाराशर मन्दिर है। कई भण्डारों में कारदार ही जाता है। इससे पहले ही उन्हें पूछे बगैर कोई चोर अन्दर चला जाये, यह रहस्यमयी वस्तुएं प्रकट कर देनी चाहिए। मलाणा में अकबर की मूर्ति या सिक्का, जो भी है, सामने आना चाहिए तथा इसका पूर्णतया संरक्षण का प्रबन्ध होना चाहिए अन्यथा यह महत्त्वपूर्ण सामग्री शनैः-शनैः विदेशों में चली जायेगी (बहुत-सी जा भी चुकी है) और हम अपनी मान्यताओं से जुड़े अपने मन्दिरों को एक दिन निरमण्ड की भांति खाली पाएंगे।

अब जबकि समस्त महत्त्वपूर्ण सामग्री, जो बारह वर्ष के बाद या जब भी महापर्व मुण्डा होने पर निकाली जाती थी, और जिसके लिए अनेकों जोखिम उठाने पड़ते थे; अवांछित रूप से बाहर आ गई है। जिस उद्देश्य के लिए इतना जोखिम उठाया जाता था, वह तो अयाचित ही हो गया है, तो क्या अब आगामी मुण्डा हो सकेगा ?

अब जबकि समस्त सामग्री की बरामदगी के बाद समस्त मूर्तियां रामपुर के खजाने में जमा हो जाएंगी, क्या सितम्बर, 1981 का मुण्डा अन्तिम मुण्डा सिद्ध होगा ?

विचित्र शरद् उत्सव : गनेड़

देवभूमि कुल्लू में एक समय ऐसा भी आता है जब यहां देवता नहीं होते। वे कहीं युद्ध के लिए चले जाते हैं या देवराज इन्द्र की सभा में जाते हैं। इन दिनों वहां ये बैठक जमाते हैं। वहीं से ये अपनी प्रजा के लिये सुख-दुःख का बंटवारा लाते हैं। युद्ध में हारने-जीतने से प्रजा के लिए अच्छा या बुरा लाते हैं। देव मन्दिर इन दिनों सूने रहते हैं। देवता की कोई कार्यवाही नहीं होती। न ही इन दिनों देवता का रथ सजता है। ऐसे अवसरों में जब देवता न हो, भूत-पिशाचों, निशाचरों के न्यारे-व्यारे हो जाते हैं। उन्हीं का साम्राज्य हो जाता है समस्त कुल्लू में। यह समय है कुल्लू दशहरा के बाद पौष और माघ महीनों का। इन महीनों को निहारा महीना या काला महीना कहा जाता है। इन महीनों में देवता की प्रजा द्वारा भी विचित्र उत्सव मनाये जाते हैं।

पौष मास में लगभग सभी गांवों में 'दियाली' मनाई जाती है। रोज सायं लोग अश्लील गालियां निकालते हैं। विशेष उत्सव कहीं तीन दिन तो कहीं सात दिन का होता है जिसमें ग्रामीण ढोल-नगारे आदि बाजों सहित अश्लील गालियां बकते हुए गांव का चक्कर लगाते हैं तथा गांव की सीमा पर खड़े हो पड़ोसी गांव के लोगों को गालियां निकालते हैं। सभी लोग मशालें लिए हुए निकलते हैं। नग्गर में इस प्रकार की दियाली में, जो गनेड़ उत्सव का अंग है, एक आदमी को भेड़े के सींग लगाकर मूसलों पर उठाया जाता है। यह आदमी अश्लील हरकतें करता है। गांव के बड़े-बूढ़े इस गाली-गलौज में पहल करते हैं। अन्य लोग उनका अनुसरण करते हैं। निरमण्ड में दीवाली के ठीक एक महीना बाद 'बुढ़ी दियाली' नाम से उत्सव मनाया जाता है।

दियाली की ही प्रकृति का किन्तु इससे कुछ भिन्न उत्सव है गनेड़ का जिसमें गूण या रस्साकशी का खेल होता है।

गनेड़ ऐसा विचित्र उत्सव है जिसमें गांव के बड़े-बूढ़े जोर-जोर से पूरे गांव के सामने, बहू-बेटियों के सामने, आसपास के गांवों से एकत्रित जन-समूहों के सामने अश्लील भाषा का खुलेआम प्रयोग करते हैं। यह अश्लील शब्दावली दोहों के रूप में बोली जाती है। ग्राम का कोई बूढ़ा इस दोहावली का अगुआ बनता है और सबके सामने चिल्लाकर बोलता है, शेष उसका अनुकरण करते हैं।

इस अश्लीलता से भूत-प्रेत शरमाकर भाग जाते हैं, यह एक तर्क दिया जाता है। दूसरे यह भी सम्भव है कि अपने अग्रज देवताओं की अनुपस्थिति में लोगों को अनाप-

शनाप बकने की छूट मिल जाती है। जिस प्रकार घर के बड़े-बूढ़ों की अनुपस्थिति में बच्चों को हुल्लड़ मचाने की छूट रहती है।

इस दोहावली को सुन कांगड़ा के एक उत्सव का स्मरण हो आया जिसमें आग जलाकर गांव के बच्चे बड़े-बूढ़ों के बारे में दोहे बोल गालियां व व्यंग्य सुनाते हैं। किन्तु ये अश्लील नहीं होते।

कुल्लू-मनाली मार्ग पर मंदरोल से ऊपर पहाड़ी पर एक गांव है जंड़ोल। 1982 की बीस जनवरी को यहां गनेड़ देखने का अवसर मिला। एक साहित्यकार मित्र अमर पालशर वहां साथ ले गये।

जंड़ोल का मंदिर देवी हिडिम्बा को समर्पित है। कुल्लू में ढूंगरी (मनाली) की हिडिम्बा के बाद यह दूसरा हिडिम्बा मन्दिर है। इस समय यहां देवी का कोई गूर नहीं है।

उत्सव में आसपास के चार गांवों के आदमी आये हुए थे। गांव के नीचे देवी के मन्दिर के सामने घास रखा हुआ था। हम लगभग चार बजे मन्दिर के पास पहुंच गये। गांव में जाने के बजाय हम मन्दिर के पास ही बैठ गये क्योंकि सभी ने गांव का फेरा लगा अब वहीं आना था।

कुछ देर बाद लोग चिल्लाते हुए बाजे सहित ऊपर से उतरे। पालशरजी ने बताया कि यह बाजे की धुन एक विशेष धुन होती है और केवल इसी उत्सव में बजाई जाती है।

मन्दिर में आने पर एक बकरा बलि किया गया और सभी उस घास का रस्सा बंटने में जुट गये। साथ-साथ हो-हल्ला भी मचा था। मन्दिर के कुछ नीचे गांव के लड़के रस्सा बंट रहे थे। इस तरह तीन रस्से बंटे गये --एक देवी का, एक ग्वालों का और एक नांगचा गांव वालों का।

रस्सा बंटने के एकदम बाद दौड़ आरम्भ हुई। हम पहले ही एक ऊंचे स्थान में आ गये थे ताकि दौड़ के इस दृश्य को देख सकें। मन्दिर से लेकर ऊपर की ओर खेतों में एक बड़े पत्थर तक दौड़ लगी।

दौड़ के बाद रस्से उठाये सभी गांव के बीच में आ गये। एक बड़े से खेत में खड़े हो शुरू हो गया अश्लील दोहों का दौर। एक बूढ़ा बहुत जोर से चिल्ला रहा था। 'होऽ होऽ होऽ'। दूसरे उसका अनुसरण करते। रस्से को मजबूती से पकड़े सभी एक किनारे खड़े थे। बीच में ये लोग चिल्ला रहे थे। रस्से को चारों ओर से पकड़े आदमी इन्हें अपने घेरे में लेने का प्रयास करते। ये नीचे होकर या इधर-उधर घेरे से बाहर निकलते। इस घेरे से निकल पाना किसी कमजोर आदमी के बस का काम न था। यदि कोई दुर्बल उस हजूम में फंस जाये तो कुछ भी सम्भव न था। बार-बार यही क्रम जारी था। सभी रस्से वाले एक-दूसरे को घेरे में लेने का प्रयास करते। इसी जद्दोजहद में रस्सा टूटने को हो आया।

"आज का दिन ही है महाराज···केवल आज का दिन···आज सब माफ है।"

एक वृद्ध ने सफाई देते हुए कहा। इस तरह से खुलेआम अश्लील बकने का मौका आज ही है और वह भी मनचले जवानों के लिए नहीं, बूढ़ों के लिये। आज समाज का भय नहीं। आज तक उस भय से दबी समस्त उच्चारण शक्तियों का खुलकर प्रयोग करने की छूट थी। इस सारे दृश्य को देखने के लिए चारों ओर लोग जमा थे। पुरुष, स्त्रियां ऊंची जगहों से, घरों के चौबारों से यह दृश्य देख-सुन रहे थे।

इस खेल के खतम होने पर रस्सों को दबाने के लिए नीचे खेतों में ले गये।

हम ऊपर आ खड़े हुए जहां बहुत-सी आग जली हुई थी। रात को यहां जागरण हुआ था। अब कुछ लोग आग के चारों ओर मदमस्त हो नाच रहे थे।

काफी समय बाद देवता के कर्मचारी वापस आये, कुछ गुनगुनाते हुए। कहा जाता है वापस आती बार वे लाहुली की तरह की बोली में कुछ बोलते हैं, जो हमें ठीक से साफ सुनाई नहीं पड़ा, समझ आना तो दूर था।

गनेड़ का खेल अन्य स्थानों पर भी खेला जाता है। मुख्यतः ये ऊपरी व्यास की पहाड़ियों में ही है। यह ढूंगरी (मनाली), कायस, नग्गर आदि में मनाया जाता है। नग्गर की गनेड़ प्रसिद्ध है। इन स्थानों पर अलग-अलग घास के रस्से बनाये जाते हैं। जैसे कहीं धान के पराल के, कहीं मूंज के, कहीं बग्गड़ के। कहीं तो रस्सा उठाकर दौड़ होती है, कहीं रस्साकशी भी होती है। एक गांव एक तरफ जुटता है तो दूसरा दूसरी तरफ। अश्लील शब्दों का प्रयोग प्रायः एक-सा है। आधुनिक सभ्यता के कारण इन खेलों को ठीक नहीं समझा जाता, अतः इनका दिनोंदिन ह्रास हो रहा है।

फागुन में मलाणा

जमलू (ऋषि जमदग्नि) की धरती में गणतन्त्र

फागुन हिमालय में भी आया। बर्फ पिघली। फूलों के अंखुए फूटे। धूप खिल आई और मेले जुटने लगे। सबसे विचित्र मेला है मलाणा का। जमलू देवता की आज्ञा से फागुन में मेला लगता है, जिसमें अकबर का सिक्का, चांदी का घोड़ा निकलता है। कौन है जमलू देवता? इस गांव में आज तक उन्हीं की गणतन्त्र व्यवस्था है। कैसे आया यहां अकबर का सिक्का? हजारों वर्ष पहले जब यूरोप के देशों में सभ्यता का प्रकाश भी नहीं था, तब इस घाटी में यह प्रजातन्त्र किसने कायम किया था, जो आज तक ज्यों का त्यों चल रहा है?

आइए, पहले आपको कुल्लू के इस विचित्र मलाणा गांव में ले चलें।

चन्द्रखणी पर्वत के उस पार बीहड़ घाटियों में घरघराती प्रचण्ड मलाणा धारा के दायें किनारे पर जमलू की धरती है, जहां बीहड़ों में प्रायः बर्बर सभ्यताएं जन्म लेती हैं। वहां जिला कुल्लू के इस कटे हुए अलग-थलग, दूरस्थ गांव-गांव में सदियों से चली आ रही प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली अब तक बनी हुई है। लगभग 2500 मीटर की ऊंचाई पर बसा 800 की जनसंख्या वाला गांव मलाणा दो भागों में विभक्त है—धारा बेड़ और सारा बेड़। बीच में है देवता का स्थान हारचा। इन दोनों भागों में आपस में विवाह-सम्बन्ध होते हैं। मलाणा की संस्कृति का अपना वैशिष्ट्य है। यहां की कणाशी बोली, जिसमें संस्कृत व लाहुल स्पिति (तिब्बती) के शब्द हैं, कुल्लूई से भिन्न है।

मलाणा पहुंचने के लिए तीन विकट मार्ग हैं। एक, कुल्लू से नग्गर होकर चन्द्रखणी पर्वत पार कर लगभग 14 किलोमीटर पैदल पर मलाणा पहुंचते हैं। दूसरे, दो मार्ग भुन्तर से मणीकर्ण होकर हैं—एक मणीकर्ण से कसौल-बसौल गांव होकर और दूसरा मणीकर्ण से कुछ पीछे जरी से लगभग 15 किलोमीटर दूर।

मलाणा की सारी धरती देवता की है। जमलू देवता ही वहां का स्वामी है, शासक है। सारा गांव उसकी प्रजा है। कुल्लू के अन्य देवताओं के विपरीत जमलू यानी परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि का कोई रथ या मूर्ति यहां नहीं है। मन्दिर में देवता का साज-सामान ही है—रणसिंगे, करनाल, छड़ियां, ढोल, नगाड़े आदि।

अलफ्रेड हारकोर्ट ने, जो कुल्लू के असिस्टेंट कमिश्नर थे, मलाणा को कुल्लू की 'महानतम् जिज्ञासाओं' में एक बताया है। वे मई, 1870 में मलाणा गये। उन्होंने 'हिमा-

लय डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ कुल्लू, लाहुल ऐंड स्पिति' में मलाणा के लोगों की निपट अबोधता, निरक्षरता, विशिष्ट आकृति, तिब्बती मूल के शब्दों वाली बोली, अकबर की प्रतिमा या सिक्का, स्थानीय न्यायाधिकरण आदि का उल्लेख किया है।

स्वतन्त्रता के बाद के 32 वर्षों के लम्बे सफर के बाद भी मलाणा के गणतन्त्र व संस्कृति में कोई अन्तर नहीं आया है। अभी भी कोई मलाणावासी किसी तरह से बाहरी दुनिया से सम्पर्क में आना पसन्द नहीं करता। स्थानीय लोक सम्पर्क अधिकारी श्री रूपचन्द्र मिश्रा सर्वप्रथम 1944 में 'सर्वे ऑफ इंडिया' के सिलसिले में वहां गये। चौथी बार वे अगस्त, '79 में वहां गये, जब हिमाचल के उद्योग मन्त्री श्री दौलतराम चौहान, मुख्य संसदीय सचिव श्री महेश्वरसिंह तथा जिलाधीश, पुलिस अधीक्षक व अन्य अधिकारी भी गये थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले से लेकर 1979 तक के काल में, जब मलाणा के इतिहास में पहली बार वहां मन्त्री पहुंचे, वहां की सामाजिक व्यवस्था, गणतन्त्रात्मक प्रणाली में कोई विशेष अन्तर नहीं देखा गया।

दो सदनों वाला अद्भुत गणतन्त्र

मिश्राजी देवता के कारदार से इंटरव्यू का टेप लाये हैं। टेप के चलाते ही कारदार की नपी-तुली आवाज उभरती है। कारदार निरक्षर है फिर भी उसके उत्तर देने के लहजे से साहित्यिकता टपकती है।

मलाणा गणतन्त्र के दो सदन हैं—ज्येष्ठांग (अपर हाउस) और कनिष्ठांग (लोअर हाउस)। ज्येष्ठांग के ग्यारह सदस्य हैं, जिनमें तीन पैतृक हैं—कारदार, पुजारी और गूर। इनमें देवता द्वारा मनोनीत किया जाने वाला सदस्य गूर है। एक व्यक्ति विशेष में देवता प्रवेश कर जाता है। वह गूर कहलाता है। देवता, गूर के माध्यम से प्रजा से बात करता है। शेष आठ सदस्य चार चुधों अर्थात् घरानों से चुने जाते हैं। ये चुध हैं—खिमार्लिंग, पंचाणिंग, धर्माणिंग और सरब्लल कुले (सरब्लल-कुल)। इनमें से प्रत्येक से दो-दो सदस्य आते हैं। ज्येष्ठांग के सदस्य मन्दिर के आगे बने चौंतड़े अर्थात् चबूतरे पर बैठते हैं। इन्हें 'चौंतड़ा' या 'कोरम' भी कहा जाता है। गूर या अन्य सदस्य की मृत्यु पर ज्येष्ठांग भंग हो जाता है और पुनः चुनाव होता है।

निचला सदन कोर या कनिष्ठांग है। इनमें से प्रत्येक घर से एक सदस्य आता है, जो प्रायः घर का मुखिया या वयस्क होता है। ये समस्त सदस्य चौंतड़े के नीचे बैठते हैं।

फरियाद करने वाला व्यक्ति 'चौंतड़े' के पास लकड़ी जलाकर धुआं कर देता है। धुआं करना दावे का द्योतक है। धुएं को देखते ही ज्येष्ठांग के सदस्य आ जाते हैं। कनिष्ठांग के समस्त सदस्यों को बुलाने के लिए आवाज दी जाती है; 'होऽऽऽ मुरूए होऽऽऽ'। इस आवाज पर कोई न आये, तो पुकारा जाता है: "द्रोही घटके!" द्रोही घटके··· द्रोही (कसम) देवता की, जो तुम न आओ। तब एकदम सब इकट्ठे हो जाते हैं।

टेप चला है। मिश्राजी प्रश्न करते हैं। यदि द्रोही घटके कहने पर भी वे न

आएं तो ?...कारदार का विश्वासभरा स्वर है, "तब तो खाना छोड़कर भी आ जाते हैं। तब कैसे नहीं आएंगे !" 'द्रोही घटके' यानी देव-कसम ! जैसे देश-कसम पर देश-भक्त के हाथ का कौर हाथ में रह जाता है और मुंह का मुंह में।

विवादास्पद विषयों पर सामूहिक बहस

बस उसी समय बहस आरम्भ हो जाती है। मामला निचले सदन से पारित हो कर ऊपरी सदन में आता है। ऊपरी सदन में अलग से बहस होती है। यह सदन किसी निर्णय या सम्मति का संशोधन स्वयं नहीं कर सकता। संशोधित प्रकरण फिर निचले सदन के पास सहमति के लिए लाया जाता है। ज्येष्ठांग, कनिष्ठांग पर कोई निर्णय थोप नहीं सकता। जब तक कनिष्ठांग द्वारा संशोधन पारित न हो, ज्येष्ठांग निर्णय नहीं दे सकता। किसी भी अन्तिम निर्णय तक पहुंचने से पहले खुलकर बहस होती है। दोनों सदनों की सहमति होने पर फैसला कर दिया जाता है।

ऐसे मामले, जिनमें दोनों सदन एकमत नहीं हो पाते, अन्तिम निर्णय देवता का माना जाता है। ज्येष्ठांग के निर्णय के विरुद्ध अपील भी की जा सकती है। अपील की स्थिति में राजीनामा करवाने की कोशिश की जाती है। देवता के निर्णय में देवता गूर में प्रवेश कर जाता है। गूर के बैठने के लिए एक निश्चित स्थान है, जिसे अन्य कोई छू भी नहीं सकता। देवता गूर में प्रवेश कर बोलता है। इस पर भी निर्णय निष्पक्ष न हो, तो कई बार गूर पर भी संदेह हो जाता है कि इसमें देवता ने पूरी तरह प्रवेश नहीं किया है, या गूर व्यक्ति के रूप में बोल रहा है, देवस्वरूप होकर नहीं। उस स्थिति में एक अन्य विधान है। दोनों पक्षों द्वारा दो बकरे लाए जाते हैं। बकरों की जांघ चीरकर उसमें जहर की गोली रख दी जाती है। अब जिसका बकरा पहले मर जाता है, वह अपराधी घोषित किया जाता है और उसे दण्डित किया जाता है।

दण्ड सबको मान्य होता है। सभी उसका पालन करते हैं। फिर भी पालन किया गया है या नहीं, इसे देखने के लिए चार फोगलदार होते हैं, जो पुलिस का कार्य भी करते हैं।

प्रायः जुर्माना एक टका (आज के तीन पैसे) किया जाता है। अधिक से अधिक पच्चीस पैसे। चोरी के अपराध में घोषित अपराधी को चोरी के माल की दोगुनी कीमत अदा करनी होती है। जुर्माना न देने पर अपराधी के भांडे-बरतन ले लिए जाते हैं और तब तक जब्त रहते हैं, जब तक जुर्माना अदा न कर दिया जाये।

सबसे संगीन अपराध देवता की सम्पत्ति की चोरी है। देव-द्रोह ही सबसे बड़ा अपराध है। ऐसे व्यक्ति को गांव से निकाल दिया जाता है। उसकी सम्पत्ति नीलाम कर उसे देवता के कोष में जमा कर दिया जाता है। कहा जाता है कि देवता की चोरी करने पर एक बार एक अपराधी को छाती में पत्थर बांध दरिया में फेंक दिया गया। यदि कोई व्यक्ति सरकारी अदालत में जाना चाहे, तो उसे दण्डित किया जाता है और बिरादरी से भी निष्कासित किया जा सकता है। अन्यथा दण्ड की मात्रा बहुत कम है। दण्ड के विषय

में कारदार के शब्द उल्लेखनीय हैं : "जहां वह दण्ड देता है, वहां दया भी करता है।"

देव-कोष में अन्न-धन की कमी नहीं है। जुर्माना, नीलामी आदि की राशि देव-कोष में जमा होती है। देवता को सोने-चांदी की भेंटें दी जाती हैं। जन-कार्य के लिए धन-संकट आ जाए, तो देवता धन देता है। कारदार आंखों पर पट्टी बांधकर भण्डार में जाता है और एक बार में जो उसके हाथ लगे, बाहर ले आता है।

किसी प्रकार की दैवी विपत्ति या विराट समस्या का हल देवता ही सुझाता है। ऐसा संकट आने पर सभी देवता के आगे दयार के पेड़ों के पास बैठ जाते हैं और बैठे रहते हैं—दिन-रात, वह हल करे, न करे।

कारदार कहता है : "गांव के सयाने वहां बैठ जाएंगे और तपस्या करेंगे दिन और रात। प्रार्थना करेंगे कि हे भगवान्, यह समस्या है, इसका हल करो। कोई भी व्यक्ति वहां 'खेल' पड़ता है और देवता हल बताता है। वह उसका कारण भी बताता है कि अमुक भूल हुई है, तभी यह संकट आया है। उस भूल में किसी का कसूर हो तो उसे दण्ड दिया जाता है।

हर कार्य में बैठकर विचार-विमर्श के बाद निर्णय लिया जाता है। कोई सामूहिक कार्य हो, कोई विशेष कार्य हो, या साधारण, सबका निर्णय सामूहिक रूप से लिया जाता है। किसी को घर बनाना है, तो दोनों सदन बैठकर सलाह करेंगे और आदेश देंगे कि अमुक व्यक्ति का घर बनाना है। सब सहायता करो। यदि कोई सहायता के लिए आगे न आए, तो उसे दण्डित किया जाता है। मिश्राजी बताते हैं कि जब वे वहां गए, तो उन्हें सामान उठाने के लिए आदमी चाहिए थे। इसके लिए भी पहले सलाह-मशविरा किया गया कि किन-किन घरों से आदमी दिए जाएंगे।

अकबर ने अपनी स्वर्ण-प्रतिमा भिजवाई

मिश्राजी के पूछने पर कारदार हर संक्रांति पर मनाए जाने वाले त्यौहार के अतिरिक्त तीन मुख्य पर्व बताता है—पहला, मघ्घर पूर्णिमा में, दूसरा फागुन में, तीसरा श्रावण में। सबसे बड़ा त्यौहार मघ्घर पूर्णिमा का है, जब यहां जमदग्नि ऋषि का जन्म-दिन मनाया जाता है। फागुन में फागली होती है, जिसमें अकबर बादशाह की स्वर्ण-प्रतिमा निकाली जाती है। इस दिन सभी आपस में 'सलाम ! सलाम !' कहते हैं और बकरा हलाल किया जाता है। जनश्रुति है कि एक साधु को जमलू से दो पैसे दान में मिले। वह हरिद्वार जा रहा था कि दिल्ली में बादशाह के आदमियों ने उससे ये दो पैसे 'जजिया' के तौर पर छीन लिए। तत्पश्चात् बादशाह अस्वस्थ हो गया। उसे स्वप्न में उस साधु ने बहुत कोसा। अकबर ने उन दोनों सिक्कों की खजाने में खोज कराई, परन्तु वे न मिल सके। साधु ने पुनः स्वप्न में बताया कि ये दोनों सिक्के आपस में जुड़े होंगे। ये जुड़े हुए सिक्के अकबर को मिल गए। बादशाह ने न केवल सिक्के ही वापस किए, अपितु अपनी सोने की प्रतिमा भी मलाणा भेजी।

गांव में जो भी जाता है, वह देवता का अतिथि होता है। उसके खाने-पीने,

ठहरने की व्यवस्था देवता की ओर से होती है। उसे एक आदमी दिया जाता है, जो खाना पकाता है और स्वयं भी वहीं खाता है। अतिथि-सत्कार के विषय में देवता की इच्छा का एक अनुभव कारदार ने मिश्राजी को सुनाया :

पांच-छः वर्ष पूर्व एक हिप्पी मलाणा पहुंचा। फसल की कटाई का समय था। कारदार बहुत व्यस्त था। उसने हिप्पी को चावल दे देने को कहा। हिप्पी पके चावल मांग रहा था। मौसम की खराबी के कारण, भयवश फसल काट लेने की जल्दी थी, इसलिए उसे चावल देकर ही टाल दिया कि खुद पकाता और खाता रहे। सभी फसल काटने चले गए। घर में बीमार मां थी। बच्चे सोए थे। बच्चों के लिए खाना टोकरे के नीचे ढक दिया। जब उठेंगे, तो खा लेंगे।

जब फसल काटकर वापस पहुंचे, तो देखा कि बच्चों का रो-रोकर बुरा हाल है। मां परेशान है। मां बरस पड़ी कि खाना क्यों नहीं रखा था बच्चों के लिए। कारदार ने बताया कि खाना तो परात के नीचे टोकरे से ढका पड़ा है। जब देखा तो खाना वहां नहीं था। सभी घबरा गए। खाना गया तो कहां गया ? खोजबीन की गई तो खाना एक बन्द पेड़ू में मिला। रात देवता ने स्वप्न में कहा—"यह सब तो मेरा है। मैंने ही तुझे दिया था। अब तू इसे अपना ही समझ बैठा !"

पैंसठ वर्षीय कारदार श्री जाहूडा ने, बाहरी जगत् के प्रशासकों में श्री कारकूट (अंग्रेजी शासन में कुल्लू के अंतिम असिस्टेंट कमिश्नर) के बाद श्री चम्बयाल का नाम लिया। हारकूट ने वहां स्कूल चलाने की दिशा में कार्य किया था। कारदार बताता है कि बच्चों को मिठाइयां दी जाती थीं। उस समय शक्तिदास अध्यापक थे, जिनके प्रयत्नों से तीस-चालीस बच्चे स्कूल में दाखिल हो गए। हारकूट जब वहां जाते, तो सभी बच्चे 'सलाम ! सलाम !' कहते।

श्री ज्ञानसिंह चम्बयाल जिला कुल्लू में डिप्टी कमिश्नर थे। वे अब जिलाधीश, मण्डी हैं।

अतिथि-सम्मान की विचित्र प्रथा

मलाणा के नाम से चम्बयाल साहब बहुत उत्सुक हो उठे। झट से मलाणा के कुछ चित्र ले आए और इस विचित्र लोकतन्त्र की यादों में डूब गए। उस अजीब दुनिया का संस्मरण उन्होंने कुछ इस तरह से सुनाया :

"जब हम मलाणा पहुंचे, तो मुझे देवता के स्थान के पास ले जाया गया। वहां एक बकरा खड़ा किया गया था। मुझे कहा गया कि मैं इस बकरे को देखूं। मैंने बकरे की ओर देखते हुए कहा कि देख तो रहा हूं, यह एक बकरा है। बस उसी समय एक झटके से बकरे की गर्दन धड़ से अलग कर दी गई। यह हमारे अतिथि-सत्कार व सम्मान का पहला आयोजन था।

"हमें तीन आदमी दिए गए—एक खाना पकाने के लिए, एक पानी भरने के लिए और एक अन्य कार्यों के लिए। अतिथियों के खाने-पीने, ठहरने की व्यवस्था भी

उन्होंने ही की। अलबत्ता हम भी अपने साथ चावल, चीनी आदि ले गए थे।

"मिश्राजी साथ थे। हम गांव में पिक्चर दिखाने के लिए जेनरेटर ले गए थे। पिक्चर का यह सामान बारह आदमियों ने उस दुर्गम मार्ग में बड़ी कठिनाई से ऊपर पहुंचाया था। उनके कन्धे छिल गए। रात को गांव में रोशनी की गई और पिक्चर दिखाई गई। मलाणा की चढ़ाई चढ़ते मिश्राजी थक गए, तो मुझे एक सज्जन का स्मरण आया, जो कुल्लू से गए थे। वे सज्जन मोटे थे। चढ़ाई में उनकी हालत ऐसी हो गई कि चढ़ना ऊपर चाहते, तो पीछे लुढ़क जाने की नौबत आ जाती। आखिर उन्हें रस्से से बांधा गया। आगे-आगे आदमी रस्से को खींचने लगे। रस्सा खिंचता, तो वे ऊपर सरकते। ढीला पड़ता, तो नीचे लुढ़कते।

"गांव में स्कूल व डिस्पेंसरी के लिए कोई भवन नहीं था। बाहर से जाने वाले सरकारी कर्मचारी-अधिकारियों तथा पर्यटकों के ठहरने की व्यवस्था नहीं थी। हमने वहां एक भवन बनाने की योजना उनके सामने रखी। देवता के स्थान के पास एक अच्छी जगह थी, जहां भवन बनाया जा सकता था। जब हमने उस जगह को भवन के लिए देने को कहा, तो वे कुछ आनाकानी करने लगे। इधर-उधर होते हुए वे आपस में कुछ बोल रहे थे, जो हमारी समझ से बाहर था। लग रहा था, वे जगह देने के लिए राजी नहीं हैं।

"हमें विश्वास हो गया कि वे जगह नहीं देंगे। भवन बनाना जरूरी था, पर उनकी सहमति के बिना यह कार्य नहीं हो सकता था। हमारे साथ खण्ड विकास अधिकारी श्री मिश्राजी थे। उन्हें पता नहीं क्या सूझी, देवता के समीप ही एक जगह आग जलाकर धुआं कर दिया। धुआं उठने का अर्थ था—कोई फरियादी आया है देवता के दरबार में। बस फिर क्या था! एकदम सारे गांव में हलचल मच गई। सब जोर-जोर से कुछ बोलने लगे और देखते-देखते इकट्ठे हो गए। जोरों की बहस शुरू हो गई। आखिर वे एक निर्णय पर पहुंचे। हमें बताया गया कि प्रस्तावित स्थान भवन-निर्माण के लिए नहीं मिल सकता। उससे थोड़ा आगे भवन बनाने की इजाजत दे दी गई।

कहीं यह गणतन्त्र कहानी न बन जाये!

"मेरा इरादा वहां छह कमरों वाला भवन बनवाने का था। एक कमरा स्कूल के लिए, एक अध्यापक के रहने के लिए, एक डिस्पेंसरी और शेष रेस्ट हाउस। बाद में भवन का निर्माण-कार्य भी आरम्भ कर दिया गया। वहां के अध्यापक श्री नौमीराम तथा डिस्पेंसर से मैंने सीधा सम्पर्क रखा हुआ था। रेडक्रास आदि से बच्चों के लिए किताबें, तख्तियां, टाफियां आदि दी जातीं। उस समय 52 बच्चे स्कूल में हो गए थे। जब मैं वहां अन्तिम बार गया, तब भवन-निर्माण कार्य तेजी से चल रहा था।

"मुझे एक संस्कृति-प्रेमी ने ऐसा भी कहा कि यही एकमात्र गणतन्त्र बचा है, हमारे उज्ज्वल इतिहास का प्रतीक। यहां अधिक विकास करके इसे आप समाप्त कर

देंगे। फिर यह कहानी बनकर रह जाएगा।

"शराब पीने की वहां सख्त मनाही है। जितनी बार कोई शराब पिए हुए पकड़ा जाएगा, उतनी ही बार दण्डित किया जाएगा। यदि सुबह शराब पिए पकड़ा गया, तो उसी समय जुर्माना हो जाएगा। वही आदमी पुनः शाम को पकड़ा जाता है, तो पुनः जुर्माना।

"विदाई के समय उन्होंने मुझे एक शहद का डिब्बा दिया। मैंने लेने से इन्कार कर दिया। पर वे देने पर अड़े रहे कि ये तो देवता की ओर से है। इसे लेना ही पड़ेगा। गांव से एक आदमी हमारे साथ भेजा गया।

"सर्दियों में ये लोग अपनी भेड़ों के रेवड़ मण्डी-सुकेत आदि निचले इलाकों में ले आते हैं। जब भी ये मण्डी आते हैं, मुझसे अवश्य मिलते हैं। अभी कुछ दिन पहले मेरे पास एक आदमी आया था।

अनुशासन पर टिका प्रजातन्त्र

"जो चीज मुझे वहां सबसे अधिक पसन्द आयी, वह था वहां का अनुशासन। बहुत अनुशासन है उन लोगों में। क्या मजाल कोई नियम से बाहर जाए! उनकी अपनी अलग बोली है, कुल्लू के निकटवर्ती गांवों से भी उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। एक छोटा-सा संसार है उनका, जो अभावग्रस्त होते हुए भी अपने में पूर्ण है। देवता की भूमि से उनकी न्यूनतम आवश्यकताएं भी पूरी नहीं होतीं। फिर भी, देवता पर आस्था अटूट है। अनुशासन पर टिका होने के कारण ही उनका प्रजातन्त्र कायम है। यदि ऐसा अनुशासन हमारे देश में भी हो जाए, तो सही मायनों में स्वराज्य आ सकता है।"

वर्तमान जिलाधीश श्री धनीराम बताते हैं कि आज तक कोई मलाणावासी अदालत में नहीं आया। एक बार देवता की चोरी हुई, तब वे आए थे। अब उन्हें बाहरी जगत् के प्रजातन्त्र की जानकारी है, परन्तु अपना गणतन्त्र होने के कारण उन्हें आधुनिक लोकतन्त्र से कोई वास्ता नहीं।

अब गांव में एक स्कूल है, एक डिस्पेंसरी है। मलाणा धारा पर बांध बनाया जा रहा है। अब भी कोई अपने बच्चों को स्कूल भेजना नहीं चाहता। बच्चे दो-तीन साल तक ही स्कूल जाते हैं। कारदार का कहना है कि लोग स्वयं ही बच्चों को स्कूल नहीं भेजते, दोषारोपण देवता पर करते हैं। वे यह समझते हैं कि पढ़कर बच्चे चालाक हो जाते हैं। गांव का कोई व्यक्ति पांच जमात तक नहीं पढ़ा। न ही कोई बाहर नौकरी करता है। डिस्पेंसरी के प्रति इनका विशेष मोह है। कारदार ने गांव में डाकघर खोलने का आग्रह किया।

एक आधुनिक पंचायत का गठन भी गांव में हुआ है, परन्तु यह निष्क्रिय है। नकी संसद इस पर प्रभावी है। कारदार का पुत्र पंचायत का प्रधान है। गांव में एक

पंचायतघर बनाने की योजना है। उसके लिए जगह का चयन किया गया। गांव वाले भी राजी हो गए। जब अधिकारी वहां गए कि आगे का कार्य आरम्भ किया जाए, तो ग्रामीण अड़ गए। उनका कहना था कि इस जगह पर पंचायतघर के लिए देवता राजी नहीं हो रहा। अब भी ग्रामीणों की मांगें देवता पर केन्द्रित हैं—"देवता के लिए कुछ होना चाहिए। जब से देवता की मुआफी समाप्त हुई है, अपनी यह प्रणाली चलानी कठिन हो गई है।"

मेरी मलाणा यात्रा

"मेरा फोटू दे तू। तू मेरा फोटू दे दे !" उन्मुक्त हंसी हंसता हुआ वह बोला।

"फोटू मैं जरूर दूंगा, पहले मुझे अपने घर में ठहरायेगा तो !" मैंने कहा।

"ठहर जाना तो क्या ? खाना तो सभी वहीं खाएंगे, तू भी खा लेना···वह फोटू लेने वाला भी मेरे ही घर ठहरा था।"

इसके घर···इसके घर ठहरा होगा वह, मैंने सोचा। जिन छायाचित्रों का जिक्र था, वे टाइम्स ऑफ इण्डिया के फोटोग्राफर तथा प्रसिद्ध छायाकार बालकृष्ण ने लिये थे। जब वे कुल्लू आये थे तो मैं उनसे नहीं मिल पाया था।

पहले नहीं लगा था, पर अब लग रहा था, फोटो उसी का था··· 'बरामदे की धूप में हुक्के का आनन्द लेता एक मलाणावासी', धर्मयुग का 24 फरवरी, 1980 का 'फागुन अंक'। यह तो वही है···फोटो की रंगीनियां भी आदमी को और का और ही बना देती हैं।

"ये क्या ले जा रहे हैं आप ? कुछ सौदा है ?" मैंने पूछा।

"हम चावल ले जा रहे हैं कारदार के···वह जग कर रहा है।" एक ने कहा। "किस खुशी में ?" "पहले मेरे पिता के एक ही लड़का था। पिता के पिता के भी एक लड़का था। हमारे कुल में एक ही लड़का होता था। अब पांच हैं। इसी खुशी में वह जग दे रहा है।" "तो तुम···" "यह कारदार का लड़का है।" दूसरे ने कहा, "दूसरा लड़का पीछे आ रहा है, एक और मलाणा में दूकान करता है।"

मलाणा नाला के साथ-साथ चलते-चलते हम पुल पार कर बाएं किनारे पर आ गये। जितना ऊपर चलते जाते थे, दरिया का घरघराना बढ़ता जा रहा था। पानी था कि उफनता चला आ रहा था। यद्यपि गर्मी भी कुछ-कुछ थी, दरिया के साथ-साथ ठण्डी हवा चल रही थी। दरिया के किनारे का रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ था। कुछ जगह तो पानी से होकर था। जरी के सामने बस से पहाड़ों को देख कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि इन पर्वतों के बीच बहुत आगे कोई जीवन होगा। ऊंचे-ऊंचे पर्वत, बीच में चौकी गांव के पास प्रकट होता मलाणा नाला, जो वहीं पार्वती में समा जाता है। जरी में एक दुकानदार ने बताया था, यही कोई नौ मील जगह है, तीन घण्टे में पहुंच जाएंगे। परन्तु पहले पड़ाव तक पहुंचने में ही एक घण्टा बीत गया। दरिया के किनारे घुटनों तक पानी को लांघ सभी सुस्ताने बैठ गये।

सामने कुछ-कुछ वैसा ही दृश्य था जैसा कि छायाकार बालकृष्ण ने धर्मयुग में दिया था। वहां मलाणा नाला के स्थान पर इसे चंद्रा नदी लिख दिया गया था, जो गलत था। वास्तव में यह मलाणा नाला ही है जो मलाणा की ओर से आता है। इसी प्रकार आटा पीसते हुए जिन्हें दर्शाया गया था, वे वास्तव में ग्यारू और आया नामक ग्रामीण नमक पीस रहे थे, आटा नहीं। एक अन्य चित्र में थकान मिटाते मलाणा गांव के कुली नहीं थे, किन्तु मलाणावासी ही थे जो अपना सामान जरी से ले जा रहे थे। मलाणा युवतियों में दो लड़कियों का नाम कला था तथा तीसरी का माह्‌मी। इनमें से एक लड़की गांव की महिला पंच शहूटी की लड़की थी जिसका चित्र सादे चित्रों में दिया गया था। सादे चित्रों में गूर का नाम मंगलू था।

"दे अब मेरा फोटू।" उसने कहा। "नाम क्या है तुम्हारा ?" "शई।" "शई··· शई का क्या अर्थ होता है ?"

"जो छल्ली बहुत खाता है।" एक बोला। "जो निकम्मा हो।" दूसरे ने कहा। "जो सुस्त हो।" तीसरा बोला। चौथे ने कुछ और बात कह दी थी कि सभी हंस पड़े।

मैंने झोले से धर्मयुग का अंक निकाला। सभी उत्सुक हो देखने लगे। साथ ही कुछ-कुछ बोलते जा रहे थे। उसी समय पीछे से आती युवतियां भी पहुंच गईं। बस फिर क्या था ! पत्रिका का वह मध्य का पृष्ठ तार-तार होने को आया। उनके बोझा उठाये चढ़ाई चढ़ते हुए लाल हुए चेहरों से टप्-टप् पसीना पन्नों पर झरने लगा और पन्ने गीले होकर गलने लगे।

कुछ देर सुस्ताने के बाद हम फिर आगे चल दिये। शई चहक उठा, "तू तो चल आगे। हम तो छः बजे तक पहुंचेंगे। बोझा है न हमारे पास। तू तो निकल जाएगा आगे। पिताजी से बता देना कि तीस आदमी हैं खाने वाले।" शई की चमकीली आंखों से शरारत टपक रही थी।

वे वहीं डटे रहे। कारदार का दामाद मेरे साथ चल दिया।

रास्ते में चलते-चलते पता चला कि कारदार की लड़की उसने ब्याही हुई है और कारदार के लड़के को अपनी बहन दी है। विवाह के बन्धन मलाणा में जटिल नहीं हैं। मामा व बुआ की लड़की से शादी हो जाती है। चाचे, ताये व मौसी की लड़की से नहीं होती।

गांव ऊपर-नीचे बंटा होने से सारा बेड़ व धारा बेड़ कहलाता है। बीच में देवता का स्थान है। इसमें ही आपस में शादी होती है। इन दोनों भागों में ही शादी होती हो, ऐसा भी नहीं है। कारदार ने बताया कि उसकी शादी सामने के घर से ही हुई है जो उसके घर के करीब है। गांव विभाजित होने के रूप में दो भागों में विभक्त नहीं है बल्कि देखने से एक ही लगता है। ऊपर-नीचे घर होने के कारण तथा बीच में देवता का स्थान होने के कारण ही दो नाम दिये गये हैं, वास्तव में गांव एक ही है। गांव से बाहर से कोई औरत नहीं ला सकता। परन्तु मलाणा से कुल्लू कुछेक औरतें ले जाई गई हैं। मलाणा प्रेमियों की शरण-स्थली भी माना जाता है। आसपास कुल्लू के गांवों से यदि

कोई औरत भगा लाए तो मलाणा में जा छिपते हैं। मलाणावासी उन्हें हर तरह की सुविधा देते हैं। यदि भूले से पुलिस ढूंढ़ती हुई पहुंच जाये, तो कभी नहीं बताते कि वे यहां छिपे हैं।

कोई ग्रामीण बाहर नौकरी नहीं करता। एक बार चम्बयाल साहब ने एक आदमी को एस० एस० बी० में भर्ती करवाया। बाहर रहने से उसके घरेलू हालात ठीक न रहे और आखिर नौकरी छोड़ वह मलाणा आ गया। गांव का आकर्षण उसे अपनी ओर खींच ले गया।

तीसरे पड़ाव तक पहुंचते-पहुंचते हमें चले हुए तीन घण्टे बीत गये। यहां पहले से ही कुछ आदमी बैठे थे।

"कहां चला ब्रह्मचारी ?" एक ने पूछा। दरअसल मैंने कुछ दिन पहले सिर मुंडवाया हुआ था। बाल अभी बड़े छोटे थे। वह मुझे कोई साधु समझ बैठा क्योंकि कुर्ता भी मैंने भगवा ही पहन रखा था।

"मलाणा।" "मलाणा ?···क्या करने ?" "वैसे ही देखने···" जो भी मलाणा जाने के बारे में पूछ रहा था, वह यह भी जानना चाह रहा था कि मैं अपने वहां जाने का प्रयोजन भी बयान करूं।

कुछ आगे एक औरत लाल झंडी लिए बैठी थी। पांच-सात औरतें वहां अपने बोझे रखे सुस्ता रही थीं। ऊपर, पहाड़ी पर मलाणा बांध के लिए सड़क का काम हो रहा था। अतः दोनों ओर नीचे पहरा लगा था। ऊपर काम करते समय पत्थर, मलबा नीचे गिरता था। ऊपर से काम बन्द होने का संकेत मिलते ही हमें जाने का इशारा हुआ। आगे रास्ता बिल्कुल नहीं था। ऊपर से मलबा गिरा हुआ था, दरिया तक। छोटे-छोटे सफेद पत्थर। जरा-सा पांव फिसले तो उफनते दरिया में।

अगले पड़ाव के बाद फिर से रास्ते का नामोनिशान नहीं था। बहुत ऊपर से सफेद पहाड़ टूटकर गिरा था दरिया के किनारे। कोई एक किलोमीटर लम्बे रास्ते में। कारदार के दामाद, जिसका नाम साजराम था (जिसे घर में लेह्ला कहते हैं) ने बताया, जब यह सर्दियों में ऊपर से गिरा तो कुछ भेड़ें नीचे दब गईं। भेड़ों के साथ का आदमी, जो सौभाग्यवश दूर था, बिल्कुल सफेद हो गया और पहचाना भी न जा रहा था।

यहीं से मलाणा के दोघरे दिख रहे थे। साजराम ने बताया, इन दोघरों में वे आजकल अपने पशु ले आते हैं। भेड़-बकरियां यहीं रखते हैं। भेड़-बकरियां सबके पास अधिक नहीं हैं। केवल कुछ ही लोगों के पास सैकड़ों में हैं, शेष के पास पन्द्रह-बीस ही हैं। कुल्लू में भी ऐसे दोघरे होते हैं जहां लोग फसल के काम के समय अपने पशु रखते हैं। सर्दियों में यहां भी कुल्लू की तरह पशुओं को घर की निचली मंजिल में रखा जाता है।

इन दोघरों को देख कुछ आशा बंधी कि मंजिल करीब है। जितना आगे जाते थे, लगता था रास्ता खतम ही हुआ चाहता है, परन्तु दरिया के साथ-साथ आगे-आगे रास्ता बनता ही जा रहा था, जिसकी थाह लगाना टांगों के लिए कष्टकर हो रहा था। इस

समय मलाणा के पास गिरूआ कोठी की एक कथा याद आ रही थी, जहां आज तक कोई न पहुंच पाया। जितना कोई आगे जाने की कोशिश करता, किला उतना ही दूर हो जाता।

साजराम कह रहा था, बस अब एक पड़ाव के बाद चढ़ाई शुरू हो जायेगी। दरिया के ऊपर से गुजरते हुए बरास के पेड़ों ने शिमला की याद दिला दी। काफी दूर तक छोटे-छोटे पेड़ थे। कुछ आगे जाकर सामने बहुत ऊंचा, सूखा, सीधी-सपाट चट्टान से घिरा पहाड़ था। अब निश्चित था कि मलाणा नाला के साथ आगे कोई रास्ता न होगा क्योंकि आगे की ओर बिलकुल सीधी चट्टान वाला पहाड़ था, जैसे दीवार बनी हो। अनुमान ठीक निकला। आगे दरिया सीधा दीवार से पर्वत को बिना रास्ते की कोई गुंजाइश छोड़े बह रहा था। चट्टानी पहाड़ के इस ओर रास्ता बना था। सीधी चढ़ाई का रास्ता। दूसरी ओर भी सीधा पहाड़ था जो दरिया तक गया था। रास्ते में छोटी-छोटी पत्थर काट सीढ़ियां बनी थीं। साजराम ने बताया, यह पत्थर अभी लगे हैं, पंचायत की मेहरबानी से। इससे पहले तो रास्ता बहुत खतरनाक था। कई जगह लकड़ी की सीढ़ियां लगाई गई थीं, जो घरों में ऊपरी मंजिल को चढ़ने के लिए लगाई होती हैं। उस सीधी चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते मेरी टांगें कांपने लगीं। फिर भी जोश से बढ़ता जा रहा था। इस रास्ते में ऊपर तक पानी नहीं है। उस रास्ते में हम दो जगह बैठे।

ऊपर पहुंच जीवन के चिह्न नजर आये—कुछ खेत से बने थे। एक औरत ढोर चरा रही थी। बस कुछ ऊपर चढ़कर ही सामने गांव था।

गांव के ऊपर भी ताज की तरह पहाड़ था। सामने मलाणा नाला के पार भी पहाड़। बीच में सामने बर्फ से ढका जोत। ताज जैसे पहाड़ के पीछे ही चन्द्रखणि पर्वत है। मलाणा के सामने के पहाड़ से होकर मणीकर्ण के पीछे कसोल-बसोल में निकलते हैं। जोत के पार है किन्नर कैलाश!

चारों ओर से पर्वतों से घिरे अलग-थलग गांव की एक अलग-थलग दुनिया! नजदीक कोई आबादी नहीं, गांव नहीं, घर नहीं। एक ओर जरी से पीछे चौकी गांव। उस ओर पर्वत के कसोल-बसोल; ऊपर की ओर चन्द्रखणी के पार नग्गर। कोई भी बस्ती 15 किलोमीटर से नजदीक नहीं—वह भी दुर्गम रास्तों से होकर।

आखिर किन विवशताओं ने इन लोगों को यहां रहने पर बाध्य किया? ऐसा कोई विशेष आकर्षण यहां नहीं है। यद्यपि इनकी देव-व्यवस्था, रहन-सहन, कुछ हद तक बोली, कुल्लू के अन्य गांवों की ही भांति है, तथापि ये इतने कटे हुए क्यों रहे? यह प्रश्न सोचने पर विवश करता है। कुल्लू के अन्य दूरस्थ गांवों में भी मलाणा-सा माहौल मिलता है, किन्तु ये इतने कटे हुए नहीं, यही एक आश्चर्यजनक अन्तर है।

क्या यह कोई पुरातन कबीला है या कहीं भागकर छिपे हुए लोग हैं, जो फिर यहीं बस गये? मण्डी की ओर से आने वाले व्यक्ति के लिए जो जरी में पहुंच जाये, यही एक स्थान है जहां वह अपने को सुरक्षित समझ सकता है। कारदार के अनुसार उनके पूर्वज मण्डी से आये हैं। कारण कुछ भी रहा हो, यहां तक पहुंचने के पीछे अवश्य कोई

मजबूरी रही है। एक बार एक स्थान पर बस जाने के बाद उस जगह के प्रति मोह हो जाता है। लाहौल-स्पिति के दुर्गम स्थानों में भी लोग रहते है। वर्ष में नौ महीने विश्व से कटाव होने पर भी लोग उस जगह को नहीं छोड़ते।

व्यवसाय की दृष्टि से खेती (नाममात्र) तथा भेड़-बकरी पालन है। भेड़-बकरियां भी गद्दियों की भांति सबके पास अधिक संख्या में नहीं हैं। कड़ू, पतीश, गुच्छिया, शहद, घी का लेन-देन चलता है। समीपस्थ बाजार जरी का है, जहां से ये अपनी आवश्यक वस्तुएं लाते हैं। प्रायः एक दिन आते हैं, रात को जरी में रहते हैं और प्रातः ही सौदा लेकर या कुछ बेचकर लौट जाते हैं। मलाणा में भी कारदार के लड़के ने दूकान खोल रखी है जो बर्फ के समय काम देती है। आवश्यक वस्तुओं की खरीद के लिए ये कुल्लू नहीं आते।

जरी के रास्ते आते हुए लग रहा था कि ये लोग इसी रास्ते से होकर मलाणा नाला के किनारे-किनारे आये होंगे। नदियों, दरियाओं, नालों के साथ-साथ रास्ते हुआ करते हैं। जहां मलाणा नाला के साथ रास्ता नहीं रहा, वहां सीधे पहाड़ पर चढ़ गये और सुरक्षित जगह में अपना निवास बनाया। किन परिस्थितियों में वहां पहुंचे; क्योंकर भागे; क्यों छिपे; इतना कटकर क्यों रहना पसन्द किया; क्यों इस प्रकार की कष्टकर और कटाव की जिंदगी बसर करने पर मजबूर हुए—यह अज्ञात है। इस विषय में मात्र अटकल ही लगाई जा सकती है। फिलहाल इस खोज में कोई तुक्का न लगाया जाये तो बेहतर रहेगा; अलबत्ता यदि कारदार का कहना सही मान लिया जाये कि उनके पूर्वज मण्डी से आये थे तो मण्डी की ओर से आने के लिए और ऐसी पर्वत कन्दरा में छिपने के लिए यही उपयुक्त रास्ता था। जरी से मलाणा नाला के दो संकरे पहाड़ों को देख कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि आगे रास्ता भी होगा, आबादी के बारे में तो सोचा भी नहीं जा सकता---आबादी और वह भी 15 किलोमीटर आगे दुर्गम पहाड़ व कंदराओं के पीछे।

बोली व अन्य विशिष्टताओं के आधार पर इनका सम्बन्ध किरातों से भी हो सकता है। किरात, जो हिमालयवासी थे। किरात, जो तिब्बत की ओर रहते थे। जो खानाबदोश थे। जिनका उल्लेख यवन, कम्बोज आदि के साथ हुआ है।

हारकोट ने मलाणियों के विशिष्ट नाक-नक्शों का उल्लेख किया है। इनकी बोली में जो तिब्बती मूल के शब्द हैं, इससे इन्हें लाहौल से मिलाया जा सकता है। किन्तु इनके नाक-नक्श भोटों से कदापि नहीं मिलते। ये कुल्लू के लोगों से भी भिन्न हैं। कारदार के इनके मण्डी से आगमन पर इनका पहरावा, नैन-नक्श को जोगेन्द्रनगर के पास कोठी कोढ़-सुआड़ के धौगरी समुदाय से मिलाया जा सकता है, किन्तु धौगरी इनकी तरह गौर-वर्ण नहीं हैं।

वर्तमान समय में मलाणियों का रहन-सहन, पहरावा, घरों की बनावट, देवता की व्यवस्था आदि सहित समस्त क्रियाकलाप कुल्लू बिल्कुल से मिलते हैं। कुल्लू के दूरस्थ गांव में जाने पर मलाणा-सा माहौल देखा जा सकता है। जहां मलाणा की बोली में तिब्बती मूल

के शब्दों की विशेषता है, वहां कुल्लू के ऊपरी भाग—मनाली से ऊपर पलचांग, कोठी आदि; दूसरी ओर लग्ग घाटी में माशणा, त्यूण आदि; उधर ब्यासर आदि पहाड़ों की चोटी पर अन्तिम गांवों की बोली में भी इस तरह की विशेषताएं मौजूद हैं जो आम कुल्लूई बोली से भिन्न हैं। अलबत्ता यह मान्य है कि मलाणा की कणाशी में ये विशिष्टता अधिक मात्रा में है, जो तिब्बती मूल के शब्दों के कारण है।

लाहुल से मलाणा का सम्बन्ध लाहुल के देवता घेपन के कारण रहा है। अभी भी देवता घेपन मलाणा आता है। पुरातन दंत कथाओं में लाहुल का घेपन तथा हामटा के रास्ते आने वाला जमदग्न विशिष्ट स्थान रखते हैं। अत: लाहुलियों से सम्पर्क और बोली का समावेश स्वाभाविक तौर से हो सकता है। कणाशी में तिब्बती मूल के शब्दों के होने का तन्तु इसके अलावा नहीं मिलता। ये लोग कभी लाहौल गए हों, ऐसा भी सुनने में नहीं आता।

मलाणा में देवता के मन्दिर के साथ बनी सराय में काष्ठ-स्तम्भों की कला पूर्णतया कुल्लू के जगतसुख के संध्या गायत्री मन्दिर-सी है। ऐसा शिल्प कुल्लू के अन्य ग्राम मंदिरों में भी मिलता है। देवता के मुख्य मन्दिर का दरवाजा निरमण्ड के परशुराम मन्दिर के दरवाजे की याद दिलाता है। शेष, देवता का साज-सामान व अन्य व्यवस्था वही है। केवल यहां अकबर की प्रतिमा की विशिष्टता अलग है। कुल्लू में भी जमदग्न के अनेक स्थान हैं जिनमें मलाणा की ही भांति उत्सव मनाए जाते हैं व घोड़े हैं।

रास्ते में शई की बातों से, चावल ढोते तीस 'जुआरों' से यह सोचा कि कारदार की स्थिति गांव में राजा-सी होगी; जैसे बाहरी सिराज—निरमण्ड या रामपुर आदि में भी रहा है। कारदार राजा ही होता था अपने इलाके का। हरिजन उसके सामने सिर उठाकर नहीं चल सकता था। गांव में किसी की भी शादी हो, नववधू को पहली रात कारदार के साथ बितानी होती थी। इस व्यवस्था का आज भी लोग बखान करते हैं। कुल्लू में भी कारदार की स्थिति सुदृढ़ थी क्योंकि धर्म में राजनीति इस तरह घुल गई थी कि दोनों एक हो गए थे। इसी तरह क्या पता यहां भी देवता की आड़ में…!

परन्तु ऐसा कुछ विशेष न था। कारदार का घर आधुनिक या हवेलीनुमा नहीं था। दूसरे घरों-सा ही था, यद्यपि वहां कुछ सफाई थी। जैसा कि ऊपरी ठण्डे इलाकों में प्राय: होता है, यहां सफाई का अभाव था गांव में, और ग्रामीणों में भी। कारदार वैसे सामर्थ्यवान आदमी है। मेरे देखते-देखते ही उसने विभिन्न कार्यों के लिए कुछ लोगों को पांच सौ रुपये वितरित किये।

कारदार के पांच लड़के हैं, रास्ते में साजराम ने बताया था। यहां कारदार बता रहा था कि चार लड़के हैं: "पांचवां ऐसे ही गांव वालों ने मुझ पर थोपा है।" उसने बताया…यह कैसे हो सकता है कि पुत्र नाम लग जाए? किन्तु जाती बार पता चला कि पांचवां लड़का एक दूसरी औरत से है जिसे अब कारदार सम्पत्ति के बंटवारे या किसी अन्य कारण से अपने नाम नहीं लगवाना चाहता।

देवता की व्यवस्था व गणतन्त्र में ग्यारह सदस्यों की कमेटी जिसे 'चौंतड़ा' कहा

जाता है, में जिन चार कुलों से दो-दो व्यक्ति लिए जाते हैं, कारदार ने वे निम्न बताए—1. थीमानिस। 2. धारानेस। 3. पुचान कुले। 4. सरबल कुले। बहुत ध्यान से सुनने पर भी यही नाम नोट हुए। नामों के विषय में कारदार से बार-बार पूछा गया क्योंकि मिश्राजी से सुने कारदार के टेप में उसने सरबल कुले के अलावा, खिमानिग, धर्माणिग पंचाणिग—ये नाम बताए थे।

ये आठ सदस्य 'ज्येष्ट्स' कहलाते हैं। अन्य तीन सदस्य वही बताए—कर्मिष्ठ—जो कारदार ही बनता है; गूर तथा पुजारी। ये तीनों जिंदगी-भर के लिए रहते हैं। दूसरे आठ सदस्यों को किसी भी समय निकाला जा सकता है।

दूसरे आम जलास में एक घर से एक आदमी आता है। इस कमेटी को 'कोर' कहते हैं। इसमें प्रायः घर का मुखिया ही आता है। स्त्रियां इसमें सदस्य नहीं हो सकतीं।

निर्णय न हो पाने पर दो बकरे (छेलू) धूप आदि देकर काली को चढ़ाए जाते हैं। जिसका बकरा अपने-आप मर जाए, वह झूठा। जिसका न मरे, वह सच्चा। दोनों ही न मरें तो दोनों ही सच्चे। बकरों को काली को सौंपने की प्रक्रिया में केवल कारदार व पुजारीजी मन्दिर में जाते हैं, दूसरा कोई नहीं।

बकरों की जंघाएं चीरकर उनमें जहर भरने की बात, या पेट चीरकर मारने की धारणा को कारदार ने गलत ठहराया। फैसला न होने पर दोनों पक्षों के बकरों की जंघाएं चीरकर जहर भरने की बात का उल्लेख हारकोट ने भी किया है। कारदार इस प्रथा से मुकर गया और काली माता को बकरों को चढ़ाए जाने की प्रथा का उल्लेख किया।

मलाणा के विषय में अकबर सम्बन्धी आम प्रचलित कथा को भी कारदार ने गलत ठहराया। उसने इस कथा को कुछ यूं सुनाया :

"एक बार एक साधु मलाणा आया। मलाणावासियों ने देवता की ओर से साधु को दक्षिणा दी। साधु घूमता हुआ अकबर के यहां जा पहुंचा। उसने बादशाह से मलाणा का इतिहास सुनाया और : "तू तो कुछ भी नहीं है। राजा है तो मलाणा का देवता। वहां सबकुछ मिलता है।" अकबर बादशाह था। उससे यह नहीं सुना गया। उसने साधु को धमकाया कि अकबर बादशाह से बड़ा कोई नहीं है। साधु को उसने मारा-पीटा भी। साधु ने शाप दिया : "जा, तुझे कुष्ठ होगा।" साथ ही यह भी बता दिया, "जब तक तू मलाणा नहीं जाएगा, ठीक नहीं होगा।"

शाप के बाद बादशाह की अंगुली दुखने लगी। वह घबराया। उसने अपने लड़के को मलाणा भेजा। देवता ने मिट्टी फेंक उसे पत्थर बना दिया। बेटे के मलाणा से न लौटने पर अकबर स्वयं आया। अपने पुत्र को पत्थर बना देख उसे बहुत खेद हुआ। उसने सोचा, देवता ने पता नहीं क्यों यह जुल्म ढाया होगा! इस कर्म से देवता को भी हत्या लग गई। देवता ने कहा : "तू राजा है। मैं ऋषि हूं। परन्तु मैं गलती पर था जो तुम्हारे पुत्र को शिला बना दिया। अब इसके प्रायश्चित्त के लिए मैं तुम्हारी यहां पूजा

करवाऊंगा।" तब अकबर की मूर्ति बनाई गई और पूजा होने लगी।

तब से लेकर फागली में अकबर की मूर्ति की पूजा की जाती है। जब तक पूजा न हो, कोई खाना नहीं खाता। सफेद भेड़े की बलि दी जाती है। जिंदा भेड़े का कलेजा निकाल लिया जाता है। वास्तव में भेड़े का गला काट उसे हलाल नहीं किया जाता, जिंदा भेड़े का पेट फाड़ कलेजा निकाल लिया जाता है। इसे ही हलाला करना कहा जाता है। फागली में अकबर के घोड़े, प्रतिमा आदि की पूजा की जाती है। कारदार के अनुसार अकबर की प्रतिमा सोने की है और लगभग दो इंच की है।

जिला कांगड़ा में ज्वालामुखी मन्दिर में अकबर के आने तथा सोने का छत्र चढ़ाने की कथा की भांति यह कथा प्रचलित है। न उस कथा की इतिहास पुष्टि करता है, न इस कथा की। अलबत्ता अबुल फजल के अनुसार अकबर बजौरा तक आया था।

सम्भव है, यह कोई रूपांतरित कथा हो। क्योंकि मलाणा अब बहुतेरे लोग उत्सुकतावश जाते रहते हैं, अतः कारदार तथा अन्य लोग किसी को कुछ सुना देते हैं, और किसी को कुछ। जो कारदार ने मिश्राजी को बताया था, उन बातों से मेरे साथ मुकर गया। अब यह भी सम्भव है, आदमी की हैसियत देखकर या उसके आने के उद्देश्य को मद्देनजर रखते हुए ये अपनी तरह से कथाएं सुनाते हों।

प्रचलित कथा के विपरीत इस कथा से कुछ और ही अन्दाजा लगता है। पहला तो यह कि साधु मलाणा आया, न कि मलाणा से बाहर गया। दूसरे अकबर ने अपने लड़के (या किसी दूत को) मलाणा भेजा। तीसरे अकबर की मूर्ति यहीं बनवाई गई, अकबर ने नहीं भेजी।

कारदार के अनुसार उनका देवता हामटा से आया है। कुल्लू में भी यही जन विश्वास है। कहा जाता है: "जेठा हामटा : कोन्हा मलाणा" अर्थात् देवता के पहले हामटा में आने से वह जेठा या बड़ा है और मलाणा छोटा। यह प्रचलित लोकास्था है कि जमदग्नि ऋषि देवताओं की टोकरी उठाए हुए किन्नर कैलाश से हामटा होकर निकले। हामटा में कुछ क्षण ठहरने के बाद वे चन्द्रखणी पर्वत से होकर मलाणा आने लगे। पर्वत पर जोर की आंधी चली जिससे टोकरी के देवता गिरकर घाटी में बिखर गए। वे मलाणा पहुंचे। यहां मलाणा राक्षस से युद्ध हुआ और उसे मार गिराया तथा अपना राज्य स्थापित किया।

कुल्लू के देवताओं की तरह देवता का सामान्य उत्सव हर संक्रान्ति को मनाया जाता है। शौण जाच, शड़री साजा, मघ्घर पूर्णिमा तथा फागुन की फागली विशेष उत्सव हैं।

भादों की संक्रान्ति को शौण जाच मनाई जाती है। इस उत्सव में कुल्लू व आस-पास से यात्री देवता के पास आते हैं। इन दिनों मौसम भी अच्छा होता है और लोग भी बहुत आते हैं। संक्रान्ति के पहले दिन से चुआई तक जातर चलती है। इस अवसर पर देवता का साज-सामान—रणसिंगे, ढोल, करनाल, छड़ियां आदि निकाली जाती हैं जिन्हें देवदारों के बीच पत्थर के पास ले जाया जाता है।

मघ्घर पूर्णिमा को देवता का जन्मदिन मनाया जाता है। यह एक ही दिन का उत्सव होता है जिसमें जग होता है व नाच-गाना चलता है। तड़के पांच बजे के लगभग देव-जागरण किया जाता है। देवता के गूर का खण्डे के साथ नृत्य होता है। कनिष्ठ गूर तीर-कमान से आकाश की ओर तीर छोड़ता है। जो उस तीर को ढूंढ़ लाए वह भाग्यशाली समझा जाता है।

फागुन की फागली प्रमुख उत्सव है जिसमें अकबर की प्रतिमा सहित देवता का सारा साज-सामान बाहर निकलता है। इन दिनों मलाणा में, रास्ते में तथा आसपास बर्फ ही बर्फ होती है। वहां जाना सुगम नहीं होता, फिर भी कुल्लू से श्रद्धालु वहां जाते हैं। फागुन की अमावस्या के पहले शुक्रवार को उत्सव आरम्भ होता है जिस दिन सारा साज-सामान निकाला जाता है। शुक्रवार से यह उत्सव पांच दिनों तक चलकर मंगल को समाप्त होता है।

एक छोटा-सा उत्सव असूज की संक्रान्ति को शइरी साजा नाम से भी मनाया जाता है। इसमें देवता की पूजा की जाती है। यह प्रातः लगभग छः बजे से नौ-दस बजे तक चलता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि देवता की कोई मूर्ति मन्दिर में नहीं है। न ही कुल्लू के देवताओं की तरह का छोटा या बड़ा रथ ही है। देवता के कुछ निशान—घण्टी, घड़छ, खण्डा आदि ही हैं। कुल्लू में भी पहले ऐसा ही रहा होगा। आधुनिक रथ तो बाद में ही बने हैं। कुछ छोटे रथ भी अधिक पुराने नहीं हैं।

"मेरे बाद यह सब चल पाना कठिन है," बरसात की उस गहराती हुई उदास शाम में कारदार के चेहरे पर निराशा की स्याही छा गई, "अब लोगों में वह श्रद्धा नहीं रही। मैंने तो किसी तरह इसे चलाया। मेरे बाद यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न न हो जाये!"

कारदार के दोनों बड़े लड़के उससे अलग हो गए हैं। बड़े ने दुकान खोल ली है। वही ग्राम पंचायत प्रधान भी है। छोटा व्यापार में पड़ गया है। उसे व्यापार में अधिक फायदा नजर आता है। छोटे दो लड़के साथ रहते हैं, जो अभी इन बातों को समझते नहीं।

बाहर बैठे-बैठे अंधेरा घिर आया। अन्दर या बरामदे में, कहीं भी कोई लैम्प नहीं जला था। जो लोग बाहर जा रहे थे या आ रहे थे, उनके हाथों में 'जगणू' की मशालें थीं। चावल ढोने वाले सभी खाना खाकर चले जा रहे थे। इस प्रकार केवल खाना खाकर बिना पारिश्रमिक लिए कार्य करने वालों को 'यारङ' कहा जाता है। इसे हिमाचल के निचले भागों में 'जुआरी' कहा जाता है। मलाणी इसे जुआरी भी बोलते हैं और मूल रूप से 'यारङ'।

कारदार के घर के सामने ऊंची-ऊंची भांग उगी हुई थी। कारदार ने बताया, अब वे इसे काटते नहीं क्योंकि इससे पैसा मिलता है। हिप्पी लोग वहां आते हैं और भांग खरीदते हैं। हिप्पियों की बात पर कारदार ने बताया कि मलाणी उन्हें छूते नहीं। फिर भी कई बार वे उन्हें दुखी करते हैं और कई बार रास्ते में मर जाने पर

उनका निपटारा भी करना पड़ा। कारदार ने बताया कि किस तरह एक हिप्पी चन्द्रखणी वाले मलाणा के रास्ते पर मर गया और आखिर गांव वालों को उसे उठाकर लाना पड़ा।

थोड़ी देर बाद कारदार की पुत्रवधू एक लैम्प रख गई। लैम्प बत्ती के स्थान पर नीचे से भड़क उठा और भक्-भक् करता कुछ ही क्षणों में शान्त हो गया। अब की बार अंधेरा और भी गहरा होकर उभरा। बाहर थोड़ी-थोड़ी बूंदाबांदी आरम्भ हो गई थी। ठण्ड बढ़ने लगी थी।

अन्दर बैठे सभी जुआर खाना खा चुके। मुझे अन्दर बिठाया गया। ऊपर की इस मंजिल को चढ़ने के लिए एक लम्बे लक्कड़ को थोड़ा घड़कर सीढ़ियां बनाई गई थीं। निचली मंजिल में पशु बांधे जाते हैं। इस बीच की मंजिल के ऊपर देवता का स्थान माना जाता है। कमरे के बीचोबीच आग जली थी जिस पर एक लोहे की तिपाई रखी थी। यही आग सेंकने का काम देती है, यही खाना पकाने का। बरसात के आरम्भ के दिनों में जब कुल्लू में गर्मी से पसीना निकलता है, यहां आग के पास बैठने को मन कर रहा था। यहां की ऊंचाई निश्चित रूप से शिमला से अधिक है, ठण्ड के पैमाने से ऐसा अंदाजा लगा।

परात में गर्म पानी लेकर कारदार की बहू मेरे आगे ले आई। उसके आगे बैठने से ही लग रहा था कि वह मेरे पैर धुलाने को तत्पर है। उसने हाथ आगे बढ़ाए। मैंने बड़ी कठिनाई से उसे ऐसा करने से रोका। अतिथियों के पैर धुलाने का ऐसा रिवाज कांगड़ा की ओर भी है जहां खाने से पहले यह कार्य परिवार की बहुओं द्वारा ही किया जाता है। साजराम वहीं बैठा था। उसने इस समय मेरी ही बात छेड़ी हुई थी; यह मैं भाषा न समझते हुए भी ताड़ गया। वह मेरे तेजी से चलने व चढ़ाई चढ़ने, पानी में बूटों समेत छलांग लगाने का उल्लेख कर रहा था। रास्ते में मैं साजराम के आग्रह पर ही पड़ाव में विश्राम कर रहा था। ऐसा इसलिए भी कि यह न समझे, मैं चल नहीं सकता। एक बार मैं बैजनाथ से ऊपर तत्तापाणी गया। वहां बैजनाथ के ऊपर से पहाड़ आरम्भ होता है। उस ओर पहाड़ की तलहटी में कुछ गद्दी लोग बस गए हैं। हम जा रहे थे तो रास्ते में एक गद्दण ने फबती कसी थी : "ये लिच्चू-पिच्चू टांगों वाले क्या ऊपर चढ़ेंगे।" इसी तरह एक बार एक स्थानीय नेगीजी के साथ मैं कुल्लू के कनांद में पाराशर मंदिर में गया। वहां भी पाहू नाला से सीधी चढ़ाई थी। इधर कुछ सालों से सीधी चढ़ाइयां चढ़ने का अभ्यास न रहा था। नेगीजी सीधे चढ़ते ही जा रहे थे। मेरी सांस धौंकनी-सी चलने लगी और माथे से पसीना चूने लगा। फिर भी उनके पीछे घिसटता रहा और मुथल गांव तक पहुंच गया। गांव के दिखने पर तथा वहां जाकर बैठने पर जो शांति मिली, वह कभी नहीं मिली।

एक थाली में खाना परोसा गया। भात वही था जो सबके लिए बना हुआ था। आलू की सब्जी मेरे लिए बनी थी, जो स्वादिष्ट थी। भात का आधा ठेला मैंने जोर लगा तोड़ा और वापस कर दिया। कारदार बार-बार लेने के लिए आग्रह कर रहा था। जब मैं

खा रहा था तो सभी मेरी ओर ताक रहे थे। कारदार ने बताया, पहले वह शराब नहीं पीता था। बाद में पीने लगा जिससे बीमार भी हुआ। शराब पीनेवाला आदमी ठीक नहीं रहता। थोड़ा खानेवाला आदमी फुर्तीला रहता है, आदि-आदि।

तभी मलाणा आनेवाले लोगों की चर्चा छिड़ गई। कारदार ने एक 'बड़े आदमी' का जिक्र किया जो बहुत ही मुश्किल से अपने लश्कर सहित मलाणा पहुंचे। गांव का गांव उनकी टांगों की गर्म पानी से धुलाई व मालिश में जुट गया। एक अजूबा समझ तथाकथित बड़े आदमी यहां आने लगे हैं। फलतः ग्रामीणों को उनके लिए बकरे से लेकर सम्पूर्ण व्यवस्था देवता के आतिथ्य के नाम पर या अन्यथा करनी पड़ती है। इस कोरे आतिथ्य से, जिससे गांव को, ग्रामीणों को लाभ नहीं निकलता, अब मलाणी दुखी होने लगे हैं। वास्तव में मलाणी तंग आ गए हैं इन दर्शकों से। कारदार ने कहा, एक बार यहां वन-विभाग से कुछ आदमी आए। हमने उन्हें बिलकुल नहीं पूछा। फिर वे 'बेचारे' अपने आप ही खाने-पीने में लगे रहे। यद्यपि कारदार को उनका आतिथ्य न करने का रंज था, तथापि यह निरर्थक लोगों के, विशेषकर विशेष लोगों के जाने का ही परिणाम है।

वैसे कारदार होशियार आदमी है। राजनैतिक सूझ-बूझ रखता है। 'हरिजन' व 'गरीब' जैसे राजनैतिक नामों से वाकिफ है। कारदार ने एक राजनैतिक कथा भी सुनाई कि किस तरह लड़की के अवैध धंधे में संलिप्त होने पर उसने अपनी जान छुड़ाई।

गांव में अधिक ठाकुर (राजपूत) ही हैं जिन्हें 'धोनिस' (जमींदार) कहा जाता है। कारदार का विश्वास है, 11-11 टोल (परिवार) मण्डी से आए हैं। हरिजन, जिन्हें 'बाईरौच' कहा जाता है, तीन-चार ही परिवार हैं। लुहार व जलउ (जुलाहे) भी हैं। ब्राह्मण कोई नहीं है। हरिजनों को छूने से परहेज किया जाता है। मंदिर के साथ कुल्लू की ही भांति हरिजनों के लिए अलग सराय बनी है।

"यहां हारकूट आता था तो कहां ठहरता था?" कारदार से मैंने पूछा। "वे अपनी छोलदारी में रहते थे। पूरा लश्कर आता था उनके साथ तो। आखिर बादशाह थे वे तो···।"

"और रोसर भी तो आता था···" मैंने और कुरेदा।

"हां, रोसर!···मेरा बड़ा दोस्त था वह।" "यहां कहां रहता था, आपके पास···?" "नहीं। वह भी ऊपर अपनी छोलदारी में रहता था। कभी वह जरी चला जाता, कभी यहां आ जाता। यहां उसके साथ एक खानसामा, एक बेयरा, एक डाक्टर, एक भंगी हमेशा साथ रहते थे।"

"हैं! इतने आदमी?" "हां, जी। उसकी क्या बात थी। क्या ठाठ थे! जरी से आना होता था तो पूरा गांव सामान ढोने में लगता था। बहुत पैसा बांटा उसने गांव में। उसने यहां अपना मकान बनाना चाहा। गांव वालों ने नहीं बनाने दिया। हम तो इन लोगों को छूते नहीं, मकान कैसे बनाने देते। यहां नीचे खड़ा हो वह आवाज लगाता —ओ! जी! ओ! जी! मैं बाहर आकर पूछता कि क्या बात है? वह कहता—मुझे हरिजन ही समझो, हरिजन बनकर ही रहने दो, पर यहां मकान बनाने दो···वैसे वह

मेरा दोस्त था परन्तु गांववाले नहीं माने इसके लिए, मैं क्या करता !"

रोसर से जुड़े एक आदमी से ज्ञात हुआ, जब वह वापस गया तो जरी में मुन्तर आने पर उसके पास तीस घोड़ों का बोझा था। पूरी बस भर गई। कहते हैं उसने एक फिल्म भी बनाई थी मलाणा पर जिसे इंग्लैंड में दिखाया गया। उसने मलाणा पर एक शोध लिखा, किन्तु रोसर का महंगा शोध यहां उपलब्ध न हुआ।

मुझे अपनी स्थिति का भान हुआ। कहां एक अदना-सा, हिन्दुस्तान का, पर्वत-कंदराओं में रहनेवाला लेखक और कहां वे पानी की जगह बीयर पीनेवाले विदेशी शोधकर्ता जिनमें फिल्म तक बनाने की क्षमता थी। एक शख्स के शब्द मुझे याद हो आए : "उनसे हमारी तुलना मत कीजिए साहब ! कहां वे पानी की जगह बीयर पीने-वाले और कहां हमें पानी भी नसीब नहीं होता !"

अक्सर बात चलती है : "इतनी दूर से आए अंग्रेजों ने इतना कुछ लिखा और हिन्दुस्तानी लेखक···?"

सवाल उठता है तो जवाब भी है। अजी ! हिन्दुस्तानी मजदूर और गरीब प्रेमचंद की तुलना आप ग्रियसन से क्यों करते हैं ? कहां कर्ज के बोझ से दबा वह कलम का मजदूर और कहां सैकड़ों चाकरों में घिरा राजा ग्रियसन ! कहां शासक वर्ग से सम्बन्धित लेखकीय शौक और हिन्दुस्तानी लेखकीय संघर्ष ! कहां तीस घोड़ों पर अकेली जान का सामान ले जानेवाला रोसर और कहां एक झोला उठाये कलम का भारतीय सिपाही ! कहां रूसी चित्रकार रोरिक और कहां एक लिपिक की नौकरी के लिए तरसते भारतीय कलाकार ! भाई जान ! इतना तो सोचिए, कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली ! माना, आप लेखक बनते होंगे, आपमें भी शोध करने की चाह होगी। संस्कृति-प्रेमी भी आप होंगे। क्या आप हारकूट, कैलवर्ट, रोसर या लेडी चेटवुड हो सकते हैं ? क्या आप अपने बीवी-बच्चों को छोड़ पांच दिन बाहर रह सकते हैं ? ऐसे कामों में तो महीनों लगते हैं। आप इस धरती पर हैं जहां जीविका के लिए हर तरह की नौकरी कर लेते हैं। नमक-मिर्च, नोन-तेल के चक्कर में पिस रहे हैं। एक रात बाहर रहते हैं तो बीवी-बच्चों का स्मरण करते हुए। एक बीवी है। एक नौकरी है। यदि ये एक बार मिल जाए तो जिंदगी-भर छोड़ने का नाम नहीं ले सकते। फिर भी आप कहते हैं, भई लगन थी तो अंग्रेज लेखकों में। कहां से आकर उन्होंने काम किया है ! भाई, काम किया है तो कौन-सा उन्होंने खुद ही किया है। वह भी तो आप जैसों से करवाया ही है। राज भी आप पर किया, काम भी आपसे करवाया और नाम अपने लगवाया। आप तो उनका बोझा ढोनेवाले ही रहे। कहां मणियों की खोज में निकले राजकुमार से कैलवर्ट, कहां राजा हारकोट, कहां वे फिल्म बनानेवाले रोसर और कहां आप ! क्या आप किसी का एक पोस्टकार्ड साइज का रंगीन फोटो लेने की हिम्मत रखते हैं ? जहां वे एक किताब लिखकर मालामाल हो जाते हैं आज भी, आप तो एक किताब छापकर ऐसे हो जाते हैं जैसे लड़की का ब्याह कर बैठे हों।

खैर छोड़िए। तभी आज तक कोई भारतीय लेखक मलाणा नहीं पहुंचा। यदि

भूले से पहुंचा भी तो शोध नहीं लिख पाया। वैसे मैं भी यहां न पहुंचता कभी। यह तो गनीमत है कि हिमाचलप्रदेश में एक भाषा-संस्कृति विभाग है। और उस पर शुक्र है कि कुल्लू में भी उसका कार्यालय खुला है। मैं इस विभाग में सेवारत हुआ हूं और किसी तरह कुल्लू में हूं।

रात खूब नींद आई। कारदार के घर में रजाई उपलब्ध थी। वह भी साफ-सुथरी। रात के लगभग दो बजे होंगे, घर के पिछवाड़े किसी के जोर से गाने की आवाज आई। ध्यान से सुनने पर लगा यह आवाज निश्चित रूप से शई की ही होगी। शाम को वह लेट पहुंचा था और फिर जल्दी ही गायब हो गया था। अभी कहीं से लुगड़ी पीकर आया होगा।

मलाणा का अपना कोई लोकगीत नहीं है। सभी गीत कुल्लू के ही गाए जाते हैं। नृत्य भी कुल्लू का ही है।

प्रातः ही उठकर मैं कारदार के साथ मंदिर आदि देखने हो लिया। स्कूल की बिल्डिंग अधूरी खड़ी थी। डिस्पेंसरी में तैनात आदमी जरी में ही रहता था। यहां कभी-कभी आता। ग्रामीण अपना ही दवा-दारू करते हैं। रात भी एक लड़की बेहोश थी जिसे देखने व दवाई देने कारदार गया था। स्कूल का एकमात्र अध्यापक भी वहां नहीं रहता। स्कूल में अभी भी चंद एक बच्चे हैं।

चौंतड़े के दोनों ओर बनी सराय में बहुत-से लोग आ बैठे थे। हरिजन वाली सराय में भी कुछ लोग थे। कारदार वहीं रुक गया और उनसे बातें करने लगा। ये लोग कसोल गांव से आए थे किसी झगड़े का निपटारा करवाने के लिए। कसोल-बसोल जो मणीकर्ण से पीछे हैं, गांवों के आदमी अपने झगड़े निपटाने के लिए यहां आते हैं। यह झगड़ा जमीन के बारे में था। वैसे देवता की चाकरी के लिए कुल्लू के दूरस्थ भागों से लोग आते ही हैं, अपने झगड़े निपटाने भी आते हैं।

कारदार ने एक आदमी मेरे साथ भेज दिया जिसने मुझे मंदिर, भण्डार तथा दो दयारों के बीच देवता की पिंडी भी दूर से दिखाई। वहां कोई नहीं जा सकता। यदि कोई चला जाए तो दण्ड के रूप में बकरा चढ़ाना पड़ता है।

वापस आती बार कारदार मुझे रास्ते के लिए नमक के साथ रोटियां देने का आग्रह करता रहा।

सीधे पहाड़ के नीचे पहुंचने पर मुझे पीछे से आता सुआरू मिल गया। नीचे उतरते हुए अब टांगें कांप रही थीं। रास्ते में उससे बातें करते हुए ऐसा लग रहा था जैसे साथ कोई कश्मीरी चला हो। वह झोले में गुच्छियां ले जा रहा था जरी में बेचने के लिए। मेरी जेब में लगभग पच्चीस रुपए थे। मैंने मन ही मन उससे गुच्छियां ठगने की योजना बनाई। किन्तु जरी में सामान बेचने के बावजूद भी वह गुच्छियों के पांच-छः रुपए किलो के भाव से भलीभांति परिचित था, अतः बात न बनी।

आगे दी गई शब्दावली में अधिकांश शब्द तिब्बती मूल के हैं, जो लाहौल व किन्नौर से मेल खाते हैं। कुल्लूई शब्द केवल पन्द्रह प्रतिशत ही हैं। कुल्लूई शब्दावली में

प्रमुखतः स्त्रियों के आभूषण, वेशभूषा से सम्बन्धित हैं। गिनती में पांच के बाद आम शब्द है, जैसे छः, सात, आठ आदि। दस से आगे गिनती बीस को पैमाना मान की जाती है। जैसे चालीस को निश निज़ां अर्थात् 'दो बीस' कहेंगे, साठ को शूह्‌म निज़ां, अस्सी को पूह्‌ निज़ां। गिनती का यह तरीका प्रदेश के अन्य भागों में प्रयोग में लाया जाता है।

कणाशी में तिब्बती मूल के शब्दों की अधिकता के कारण देवनागरी में इनका सही उच्चारण पकड़ पाना कठिन है। लम्बी लय में बोले जाने के कारण भी अधिकांश शब्दों में 'ह्‌' की ध्वनि रहती है। उदाहरण के तौर पर यहां लड़कियों का एक प्रचलित नाम 'मासी' है, जिसे उच्चारण के हिसाब से 'माह्‌सी' लिखा जा सकता है। एक बार एक मलाणी जोड़ा भुन्तर में बस में बैठा। वे औट तक बस में जा रहे थे। बंजार की ओर लारजी में उनकी भेड़ों का रेवड़ था। बस में भीड़ होने के कारण औरत को आगे सीट मिली। जब बजौरा में पीछे सीट खाली हुई तो मर्द ने जोर से आवाज लगाई: 'माह्‌सी!"

कणाशी के कुछ विशिष्ट शब्द

1. गुह्‌	: मैं	2. कीम	: घर
3. शैणी	: दोघरा (घर से दूर जमीन में बनी पशु-शाला)	4. र्‌हात	: बैल
5. हूज	: गाय	6. बेकर	: बकरी
7. बकरस	: बकरा	8. छैलस	: बीज का बकरा
9. म्हाच	: शिशु बकरा	10. शकरस	: बछड़ा
11. शकरङ	: बछिया	12. खस	: भेड़
13. बेकान	: नर भेड़	14. मुतकार	: नर भेड़ (बीज का)
15. शाड़्ग	: गीदड़	16. ह्मैम	: रीछ
17. मुराड़ी	: बिल्ली	18. विणा	: कस्तूरी मृग
19. लांङ	: ढोर	20. मड़शङ	: आदमी
21. तिह्‌	: पानी	22. जाप	: आकाश, वर्षा
23. जूड़शंग	: बादल	24. धरत	: धरती
25. ज्योश्ता	: चांद	26. झाह्‌ड़े	: सूरज
27. रातिङ	: रात	28. लाय	: दिन
29. सोम	: सुबह	30. ओएराङ	: शाम
31. कारग	: तारे	32. ज्रोह्‌द	: कनक
33. भ्रेस	: काठू	34. हलगा	: आलू
35. काह्‌न	: सरसों का साग	36. भाजी	: सब्जी

37. कुलार	: सुबह का नाश्ता	38. दुपहरी	: दोपहर का भोजन
39. ब्याले	: शाम का खाना	40. लाहड़े	: आटे के चिलड़े
41. राहड़े	: आटे के सिड़ू	42. होड	: रोटी
43. लुह्‌फा	: सलियारा	44. लार	: चावल
45. फूह्‌ल	: भात	46. झोल	: छाछ का बना पेय सब्जी के तौर पर प्रयुक्त होने वाला।
47. फेमड़ा	: सलियारे का बना खाद्य	48. लटपटा	: कपड़ा-लत्ता
49. सुथ्थण	: पाजामा	50. कुर्ती	: कमीज
51. टोपे	: टोपी	52. खोबे	: सैल्ली के जूते
53. पोह्‌ण	: रस्सी की बनी पूलें	54. गासा	: पट्टू (स्त्रियों द्वारा पहना जाने वाला)
55. सोह्‌	: कमर की पेटी	56. घुड़ू	: सिर में लपेटा जाने वाला ऊनी कपड़ा
57. थीपा	: ढाठू (सिर में लपेटा जाने वाला)	58. लौंग	: स्त्रियों का नाक का गहना
59. बालू	: स्त्रियों की नाक की नथनी	60. खुंडी	: कान के चांदी के गहने
61. ढेढच	: कान के गहने	62. कंठी	: गले का हार
63. चन्द्रहार	: गले का चन्द्रहार	64. बा	: पिता
65. इया	: माता	66. दादू	: दादा
67. दादी	: दादी	68. छौंह	: पुत्र
69. तेंम	: पुत्रवधू	70. चीमे	: बेटी
71. मामा	: मामा	72. मामी	: मामी
73. बाफा कूच	: चाचा	74. बा जेठा	: ताया
75. रहेंग्ज	: बहन	76. भाउ	: बड़ा भाई
77. भौच	: छोटा भाई	78. बेस	: भाभी
79. ब्होचेस	: भतीजा	80. ब्होतेग	: भतीजी
81. भिनिस	: पति	82. छेच	: पत्नी
83. कमिष्ठ	: कारदार	84. ज्येष्ट्स	: ज्येष्ठांग का सदस्य
85. ज्येष्ठांग	: सदन का अपर हाउस	86. कनिष्ठांग	: सदन का लोअर हाउस
87. घौनिस	: जमींदार (राजपूत)	88. बाईरोच	: हरिजन

89. जलउ	: जुलाहा	90. यारङ	: जुआरा (बिना पारिश्रमिक के केवल भोजन खाकर कार्य करने वाला)
91. छोग	: सफेद	92. रग	: हरा
93. सरगङ	: नीलम	94. रोक	: काला
95. पिग	: पीला	96. कोह्ला	: खदरंग
97. ईद	: एक	98. निश	: दो
99. शूह्म	: तीन	100. पूह्	: चार
101. नाह्	: पांच	102. निज़ां	: बीस
103. निश निज़ां	: चालीस	104. शूह्मनिजा	: साठ

कुल्लू वादी में हिप्पीवाद

कुल्लू घाटी देव घाटी के रूप में प्रसिद्ध रही है। सेब घाटी के रूप में भी उभर-कर सामने आई। पर्यटकों के लिए भी आकर्षण का केन्द्र बनी परन्तु अब यह घाटी हिप्पी घाटी के रूप में सामने आ रही है।

मनाली, जगतसुख, नग्गर, जरी, कसोल-बसोल, मणीकर्ण, कुल्लू के आसपास, सब जगह—गांव, जंगल, नदी, पहाड़ों पर हिप्पी वास करने लगे हैं। दूरस्थ और कटा हुआ मलाणा भी इनसे अछूता न रहा। वैसे तो अब सभी विदेशियों को आम आदमी हिप्पी कह देते हैं परन्तु कुल्लू मलाणी में बसने वाले अधिकांश हिप्पी घृणित और घिनौने हैं, जलील और अश्लील हैं, गंदे और नंगे हैं।

पुराने समय में मणीकर्ण, वशिष्ठ आदि स्थल साधुओं और तीर्थयात्रियों के लिए आध्यात्मिक आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। फिर सैलानियों के भौतिकवादी दल उमड़े। अब हिप्पी धावा बोल रहे हैं। नाना प्रकार के भेषों में ये हिप्पी कारों, बसों, ट्रकों में, पैदल चलते रहते हैं। पेंट-जैकेट, पाजामा-कुर्ता, घाघरा, चोली, सलवार-कुर्ता, पट्टू-ढाठू, बूट, चप्पल, पूलें या नंगे पांव ये देखे जा सकते हैं। दिल्ली से मनाली के लिए सीधी बसें चलती हैं। सायं दिल्ली से बस में सवार हो भांग, हशीश आदि के खुमार में सुबह कुल्लू-मनाली पहुंच जाते हैं। यहां उतरकर अलसाये से अपने-अपने ठिकानों की ओर चल देते हैं। गांव में इन्होंने कमरे किराये पर ले रखे हैं। कभी साधु-वेश में, कभी कुल्लूई-वेश में और कभी वेश से मुक्त होकर यहां-तहां मंडराते रहते हैं। ये लोग किसी एक देश से नहीं आये बल्कि अनेक देशों—फ्रांस, जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया आदि से आए हैं। कुछ तो ठीक तरह से अंग्रेजी भी नहीं बोल पाते, हां यहां 'रोटी, पानी, चाय' आदि का उच्चारण अवश्य सही कर लेते हैं। इनमें से अधिकांश साधनसम्पन्न हैं जिन्हें विदेशों से धन आता रहता है। कुछ छः महीने विदेश में लगाकर दो साल यहां आराम से सो-कर बिता देते हैं। कुछ जल्दी ही कंगाल हो जाते हैं और पैसे-पैसे के लिए मोहताज हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में ये भिखारी की तरह भीख मांगने में भी संकोच नहीं करते।

ये लोग छः-सात वर्ष से यहां आ रहे हैं किन्तु गत दो वर्षों से इनकी संख्या में आश्चर्यजनक रूप से वृद्धि हुई है।

एक बार हम मलाणी से वशिष्ठाश्रम जा रहे थे। हिमाचल पर्यटन निगम के

स्नानागृहों के पास कुल्लूई स्टाइल का कोट और ऊनी पाजामा पहने एक व्यक्ति एक लट्ठ पीठ पर उठाने का प्रयास कर रहा था। वेशभूषा से वह स्थानीय था। जिस ढंग से वह लट्ठ उठाने के लिए जद्दोजहद कर रहा था, वह स्थानीय न थी। सर्दियों में ऊपर से बहुत-सी बर्फ आ जाने से पेड़ भी उस नाले में जा गिरे थे। वह कुल्लूई वेशधारी हिप्पी था।

वशिष्ठ मन्दिर के बाहर होटल के सामने कुर्सियों पर बहुत-से हिप्पी-हिप्पनें जमे थे। काफी पीते हुए वे जर्मन बोल रहे थे। स्थानीय लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ, वे सब इसी गांव में रहते हैं। आस-पास होटलों में बैठे, मन्दिर के प्राकृतिक गर्म जल से नहाते, घरों के चौबारों पर खड़े हिप्पियों को देख किसी वेस्टर्न फिल्म का गुमां होता था। वह स्थान जिला कुल्लू का वशिष्ठ न होकर जर्मनी का कोई कस्बा लग रहा था। काफी समय बाद जब हम लौटे तो वही हिप्पी पीठ पर लट्ठ उठाये, हाथ में कुल्हाड़ी लिए पसीने से तर आता हुआ मिला।

हिप्पी-हाट

मनाली बाजार हमेशा हिप्पियों से भरा रहता है। सैलानियों के सीजन के बाद भी हिप्पी-सीजन बना रहता है। मनाली बाजार से हिडिम्बा की ओर जाने वाले रास्ते में होटलों में हिप्पी ही हिप्पी विराजते हैं। उस दिन बाजार में एक हिप्पन अपना टेप बेचने के लिए दूकान दर दूकान घूम रही थी। कुछ हिप्पियों ने अपनी पैंट, जैकेट, बूट खोलकर बेचने के लिए रखे थे। जब कोई मोल-भाव करता तो वे मसखरी से मुस्कराते थे।

ये तो थी दिन की बात। सायं हिप्पी-हाट भी लगता है, इसका पता बाद में चला। हर रविवार को मनाली में हिडिम्बा मंदिर के साथ हिप्पी-हाट लगता है।

सायं लगभग चार बजे हम हिडिम्बा मन्दिर के ऊपर बैठे थे कि दूसरी ओर बहुत-से लोगों का शोर, आव-जाई, अंग्रेजी गानों की धुनें सुनाई दीं। हमने सोचा कि सैलानियों के लिए कोई होटल-रेस्तरां खुला होगा इस ओर। आगे जाकर देखा तो वाकई एक किनारे एक टेंट जैसे में होटल था जिसमें कॉफी बिक रही थी। कुछ अंदर-बाहर बेंचों पर, पत्थरों पर हिप्पी ही हिप्पी बैठे थे। जोरों का संगीत बज रहा था। कुछ हिप्पी कॉफी पी रहे थे। कुछ चिलमों से धुआं उगल रहे थे। दूसरी ओर ढलान में और छोटे से ग्राउंड में कतारों में हिप्पी बैठे थे। सभी के आगे पैंटें, कमीजें, बूट, टेप, कैसेट, घड़ियां, गहने आदि रखे थे। ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं से जो भी हिप्पी या हिप्पन आते, कन्धे पर रखे गट्ठर को नीचे फेंक, चीजें निकाल दूकान सजाकर बैठ जाते। बहुत-से स्थानीय युवक मोटरसाइकिलों पर पहुंच रहे थे। क्रय-विक्रय जारी था। कुछ तिब्बती भी माल लेने के फिराक में घूम रहे थे। एक हिप्पन बर्फी जैसी कोई मिठाई बनाकर लाई थी, जिसे सब हिप्पियों को एक रुपया प्रति पीस बेच रही थी। एक हिप्पी पकौड़े तल रहा था। हिप्पन वेसन घोल रही थी। पास ही उनका प्यारा-सा बच्चा खेल रहा था। बिकने वाली सभी वस्तुओं के दाम अधिक थे। फिर भी हमारे देखते-देखते एक ने एक बैग

व घड़ी खरीदी। एक हिप्पन पचहत्तर रुपये में चांदी के झुमके बेच रही थी। उस हाट को देखकर ऐसा लगता था कि यह मेला हिप्पियों ने सामान बेचने के लिए कम और आपसी मेल-जोल के लिए अधिक लगाया है। इस बहाने हर रविवार को एक स्थान पर इकट्ठे होने का मौका मिलता है। सारे हाट का चक्कर लगाकर मैंने एक किनारे खड़े हो कैमरा सीधा किया। अचानक एक हिप्पी ने दूसरे को ठेलकर मेरी ओर इशारा किया। उस किनारे के सभी हिप्पी एक साथ चीख उठे : "नो-नो, नो फोटोग्राफी।" प्लीज लगाना भी उन्होंने उचित न समझा और देर तक मुझे घूरते रहे।

हर रविवार सायं लगने वाले इस हाट में पूरे इलाके के हिप्पी भाग लेते हैं और कुल्लू-मनाली के लोग भी इसमें इम्पोर्टेड माल खरीदने आते हैं। मनाली बाजार में तिब्बतियों द्वारा बेचा जाने वाला विदेशी माल भी इन्हीं से लिया हुआ होता है। नवयुवक बड़े शौक से एक हिप्पी द्वारा सालों रगड़ी पेंट खरीद लेते हैं। शेष वस्तुओं के प्रति तो आकर्षण रहता ही है।

अनोखा परिवार

मनाली में ही एक हिप्पी परिवार से भेंट का मौका मिला। एक बगीचे के मकान में ये लोग रहते हैं। इनमें कुछ मर्द हैं व कुछ औरतें हैं। पांच-सात बच्चे भी हैं। इनका कहना है कि ये एक ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जिसमें सब मिलकर इकट्ठे रहें। कोई पति नहीं होगा, कोई पत्नी नहीं होगी। इस तरह से जन्मे बच्चे सबके बच्चे होंगे। मांएं तो आखिर मांएं ही रहेंगी, बाप कोई न होगा। सभी बच्चों को सभी मर्द समान रूप से प्यार देंगे। मांएं भी सबको समान रूप से चाहेंगी किन्तु वास्तविक मां का प्यार स्वाभाविक तौर पर अधिक रहेगा। इसके लिए भी वे कुछ उपाय खोजने के लिए प्रयत्नशील हैं।

यह कौन से अध्यात्म की खोज है

नग्गर के ऊपर ठाह्वा के मुरली मनोहर मंदिर के दूसरी ओर कुछ हिप्पियों को एक मकान में बैठे देखा। चार-पांच जने पहाड़ों की ओर मुंह किये निश्चल बैठे थे। हमारे चीखने-चिल्लाने से ध्यान आकर्षित करने पर भी वे उस ध्यानावस्था से नहीं डिगे। ऐसे ही ध्यानस्थ एक योगी रात के दस बजे सुनसान सड़क पर पैदल चला आ रहा था। मण्डी की ओर से आने वाली अन्तिम बस थी। ड्राइवर ने उत्सुकता से बस रोक उसे बिठा लिया। सीट पर बैठते ही वह पुनः ध्यानमग्न हो गया। कण्डक्टर के पैसे मांगने पर और आवाज देने पर भी योगासन में स्थित वह नहीं डिगा। दुनिया से बेखबर ऐसे योगी दरिया के किनारे लहरों को देखते, होटलों में धुआं निहारते, सड़कों के किनारे पेड़ों को घूरते मिल जाते हैं जो अपने में खोये सांसारिक माया से परे उस परावस्था को प्राप्त हुए होते हैं जो भांग, चरस, हशीश, हिरोइन या ऐसे ही साधनों से योगी को प्राप्त होती है। साधुओं के साथ भी बियाबानों में, श्मशानों में ऐसे योगी वास करते हैं।

मणीकर्ण में हिप्पी

एक बार मैं मणीकर्ण गया तो रथ के साथ वाले होटल में पाश्चात्य संगीत की जोरों की ध्वनि आ रही थी। यह संगीत पार्वती की सांय-सांय ध्वनि पर पूरी तरह हावी हो गया था जो ध्यानी व योगियों को आकर्षित करती है। होटल में झांकने पर देखा, कुछ हिप्पी नंगे-अधनंगे चिलमें पकड़े बैठे थे। जब हिप्पियों का ख्याल आया तो चारों ओर हिप्पी ही हिप्पी दिखने लगे। ऊपर-नीचे, आस-पास—हिप्पी ही हिप्पी प्रभु राम की तरह प्रकट हो गये। सारा मणीकर्ण मणियों के बजाय हिप्पीमय हो गया। कोई चावल पका रहा था। कोई चिलम से धुआं उगल रहा था। कोई सिगरेट फूंक रहा था। कोई शून्य में ताक रहा था तो किसी ने साधुओं का साज-सामान उठा रखा था। कोई (भांग पीकर) ध्यान लगाये बैठा था। कोई कमण्डल लिए साधु वेश में धूनी रमाये बैठा था।

ऊपर की ओर खड़ा एक हिप्पी पेट दर्द से आक्रांत था। सम्भवत: वह भूखा भी था। पैसे उसके पास थे नहीं। एक होटल में एक गजब की हिप्पन को एक भयंकर, काले मूंछों वाले देसी हिप्पी के साथ बैठे देखा। उसके अधनंगे गदराये जिस्म पर जगह-जगह नीलापन था, जैसे किसी ने नोच खाया हो।

लोगों ने बताया, ये लोग आसपास घरों में कमरे किराये पर लेकर रहते हैं। कभी वापस चले जाते हैं, कभी आ जाते हैं। कुछेक तो यहां मरे पाये गये। गांव वालों ने या पुलिस वालों ने उनका निपटारा किया। कुछ ऐसे हैं जो वापस जाने के काबिल नहीं रहते। वे भांग पीते हैं और पड़े रहते हैं। अपना शरीर शिव आराधना में उन्होंने अस्थि-पंजर बना दिया है।

सम्भवतः पुलिस के आतंक से इन्हें फोटोग्राफी से बहुत चिढ़ है। ऐसे मौके पर अक्सर ये उद्दण्डता से पेश आते हैं। कैमरा सामने देखकर एक साधु के साथ चिलम लगाते तीन हिप्पी, एक हिप्पन बुदबुदाने लगे: 'यू आर बिकमिंग क्रेजी···देहली के चिड़ियाघर में जाओ, यदि फोटो ही लेने हैं तो।" और बिदकते व बुदबुदाते हुए वहां से एकदम खिसक गये। थोड़ी देर बाद हम टहलते हुए रघुनाथ मन्दिर के दूसरी ओर गये तो वही हिप्पी एक दर्जी की दूकान में बैठे थे। हमें वहां पहुंचा देख वे उठकर इधर-उधर गांव की गलियों में लुप्त हो गये। शायद वे हमें पुलिस का आदमी समझ रहे थे।

उन्हीं दिनों एक हिप्पी की गुरुद्वारे के सेवादारों द्वारा पिटाई हुई थी। वह पट्टियां बंधवाये गुमसुम बैठा था। पता चला कि वह बार-बार मना करने पर भी गुरुद्वारे के स्नानागृह में साबुन मलकर नहाता था, इसीलिए सेवा करनी पड़ी। यह तो शुक्र है कि मणीकर्ण में एक डाक्टर है और डिस्पेंसरी है।

मणीकर्ण से आगे खीर गंगा में ठहरे एक महात्माजी से एक हिप्पन ने शादी कर ली है जिसे वे 'पार्वती' कहकर पुकारते हैं। साधुओं से हिप्पनों की शादी के और उदाहरण भी देखने-सुनने में आते हैं, अलबत्ता ये अधिक देर नहीं चलते।

एक बार कुल्लू में एक हिप्पी पुलिस ने पकड़ रखा था—कृश-काय, केवल एक

अंगोछा कमर में लपेटे हुए, जो शायद पुलिस वालों ने ही दिया होगा। पूरे बदन को ऐंठता हुआ वह धरती पर लोट रहा था। हथकड़ियां पकड़े सिपाही भी उसके साथ नीचे झुक जाता। कभी-कभी उसके बदन में कंपकंपी दौड़ जाती। सर्दियों के दिन थे। वह कोर्ट में अपनी पेशी के इन्तजार में था। प्रायः बहुत-से हिप्पी भांग-चरस आदि के मामलों में संलिप्त पकड़े जाते हैं।

युवा पीढ़ी पर असर

एक बार मलाणा गया तो वहां घरों के साथ ऊंची-ऊंची भांग उगी हुई थी। पूछने पर पता चला कि वे लोग अब भांग नहीं काटते। इससे उन्हें आय होती है। हिप्पी लोग इन्हें इसके लिए पैसे देते हैं। हर जगह इन्होंने भांग मलने के लिए स्थानीय लड़के लगा रखे हैं। बेकार लड़कों को पैसे का प्रलोभन देकर ये भांग मलवाते हैं। स्वयं कभी किसी हिप्पी को भंग मलते नहीं देखा। इस तरह से भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिल रहा है। साथ ही युवा पीढ़ी गलत राह पर जा रही है। किराये के घरों में, बरामदों में, दरिया के किनारे, सुनसानों में ये नग्नावस्था में जैसे-तैसे पड़े रहते हैं।

इन्हें देखकर मोहन राकेश की कहानी 'चौगान' की याद आती है। स्थानीय लोगों के लिए ये कीमती धातु के बुत हैं। आय का स्रोत हैं। बदबूदार और फटेहाल होते हुए भी एक अजूबा हैं। गांव में जो मकान कभी किराये पर उठ ही नहीं सकता, इनकी वजह से ऊंचे दामों पर चढ़ जाता है। विदेशी वस्तुओं का आकर्षण भी कम नहीं क्योंकि वापस जाने पर ये अपना सब बेच जाते हैं।

जिला कुल्लू में उपलब्ध प्राचीन पाण्डुलिपियां तथा चित्र

पुराने समय में छापाखाने के अभाव में प्रचलित काव्य, गाथा, प्रेमाख्यानों को पुस्तक रूप में सुंदर अक्षरों में उतार लेने का रिवाज था। सम्भव हो तो इसमें चित्र भी दिए जाते थे। चित्रकला में 'कांगड़ा कलम' के उत्थान के साथ इस कला के लिए नए आयाम खुले और कुल्लू कलम में भी अभिनव प्रयोग हुए।

यद्यपि इस तरह की बहुत-सी सामग्री अंग्रेजों के समय तथा उसके बाद में भी तथाकथित कला-प्रेमियों द्वारा यहां से सस्ते में या मुफ्त में भी उड़ाई गई तथापि कुछ अवशेष अभी भी बचे पड़े हैं जो जागरूकता आ जाने के कारण जिनके कब्जे में हैं, सुरक्षित हैं। प्राचीन चित्रों, पाण्डुलिपियों, सिक्कों व पुरातत्त्व के महत्त्व की वस्तुओं की जितनी ठगी या चोरी हिमाचल के इन क्षेत्रों में हुई है, उतनी सम्भवतः अन्यत्र कहीं नहीं हुई। विदेशी और देशी—दोनों तरह के साहबों ने अपने राज के दौरान हजारों की चीज कुछेक रुपयों में या मुफ्त में ही मार ली है। इन लोगों के नाम उंगलियों पर गिनाए जा सकते हैं। इन्हीं वस्तुओं के बल पर वे लोक साहित्य, कला के विद्वान् बने और कलापारखियों तथा देश के कलामर्मज्ञों में अपना स्थान बनाया।

कुल्लू में अब जो शेष है और खोजा जा सका है, उसमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है। सभी सचित्र या हस्तलिखित पाण्डुलिपियां प्रायः तत्कालीन लोकप्रिय काव्यों की प्रतिलिपियां हैं। जो परंपरा केशव से लेकर नंददास, मंझन, घनानंद आदि तक चली, उसी की प्रतिलिपियां और रूपांतर यहां मिलते हैं। कुछ संस्कृत काव्य जैसे गीता की प्रतिलिपियां तथा तन्त्र-मन्त्र की पोथियां भी मौजूद हैं। अब छुटपुट रूप से वही मसौदा विद्यमान है जिस पर उन महानुभावों की नजर नहीं पड़ी या जो उन्होंने अपने काम के काबिल नहीं समझा।

प्रेमाख्यान काव्यों के अलावा इन तीन-चार सौ वर्ष तक पुराने कागजातों की दूसरी खूबी यह है कि ये सभी कांगड़ी बोली में लिखे गए हैं। पुराने इतिहास की पोथियां, पट्टों की भाषा कांगड़ी है, कुल्लूई नहीं। जाहिर है कुल्लूवासी उस समय नहीं के बराबर पढ़े-लिखे थे। राज-सेवाओं में भी वे नहीं आए। राजाओं के समय के बाद हारकोट ने भी इस बात की विशेष चर्चा की है कि कुल्लूवासी स्थानीय सेवाओं में भी नहीं आते। उससे पहले राज-सेवाओं के महत्त्वपूर्ण पदों जैसे वजीर या अन्य

हाकिम समीपस्थ कांगड़ावासी ही थे। अतः उस समय राजभाषा कांगड़ी ही रही।

कांगड़ी बोली में लिखी इन समस्त पाण्डुलिपियों की लिपि टांकरी है। इस प्रकार की पाण्डुलिपियों का पर्याप्त संग्रह फाड़सू निवासी श्री खूबराम खुशदिल के पास है। पाण्डुलिपि, प्राचीन सिक्कों आदि के संग्रह के शौक से इनके पास एक छोटा-मोटा संग्रहालय ही बन गया है। ये टांकरी भी जानते हैं, अतः समस्त पाण्डुलिपियों के अनुवाद के लिए कटिबद्ध हैं।

श्री खूबराम खुशदिल के पास निम्न पाण्डुलिपियां हैं :

1. मधुमालती

मधुमालती इनके पास उपलब्ध एकमात्र सचित्र व सम्पूर्ण पाण्डुलिपि है। $6'' \times 9''$ के आकार की इस 206 पृष्ठीय पाण्डुलिपि में 58 छोटे-बड़े चित्र हैं। चित्रों में 34 चित्र बड़े आकार के हैं जो हाशिए को छोड़ $5\frac{3}{4}'' \times 7\frac{1}{2}''$ के आकार के पूरे पृष्ठ में व्याप्त हैं। शेष चित्र छोटे हैं जो एक पृष्ठ में दो-दो भी हैं। पुस्तक में सुंदर अक्षरों में चमकदार स्याही से लिखा गया है। मुख पृष्ठ पर सुनहरी अक्षर भी हैं।

काव्य के अन्त में इसे राजा प्रीतमसिंह (1767-1806) के समय सम्वत् 1854 का लिखा हुआ सिद्ध किया गया है :

"इति श्री मधुमालती कथा प्रसंग संपूरण समापत शुभ कल्याण असतु श्री विकरमाजीत सं० 1854 शुभ।"

अतः यह सन् 1797 के लगभग लिखी या उतारी गई।

कामदेव प्रसंग की समाप्ति के बाद कवि चतुरभुजदास का नाम आता है, जो सम्भवतः इस काव्य के लिपिकार ही रहे होंगे, यदि काव्य मूलतः कवि मंझन का है। कवि मंझन द्वारा मधुमालती 1545 में लिखी गई मानी जाती है जबकि प्रस्तुत पाण्डुलिपि कवि चतुरभुजदास द्वारा रचित है :

"कायथ नाम जो को लहें दसरथ सुत भयोराम
कृपा भई चतुरभुज को कथा प्रकासी ताम।
अलप बुधि दृष्टों ढई कथा प्रबंध प्रकास
कवि जन सों कर जोरि के कहत चतुरभुजदास।"

काव्य को लिखने के मास, दिवस तथा चित्रकार 'भगवान्' के नाम का उल्लेख यूं हुआ है :

मास पोषपद एक मो वासुर सोम प्रमाण
मधुमालती रसक लिख्यो सुकल प्रतिपद जान
रघुनाथपुर नगर में स्री प्रीतम सिंघ वतमान
कलसो धरयो बनाई के चित्रकार भगवान्।
मधुमालती प्रीत कर लिखनी मूरत बन्द
भगवानदास ने लिख धरी कहयो जुआ सुनंद।

आगत मन्त्री जु कह्यो पोथी हम को देह
जो चाहे सोइ मांग ले अ सुनन्द सिर खेह।

इस उक्ति से चित्रकार भगवान् का नाम चित्रकार के रूप में उभरता है जिसने काव्य में चित्र बनाए। तत्कालीन मन्त्री आगत का भी उल्लेख है। मन्त्री आगत के नाम की एक पट्टे में भी पुष्टि होती है। टांकरी से अनुवाद की अस्पष्टता के कारण पाण्डु-लिपि के अनुवाद में कई जगह ठीक अभिव्यक्ति नहीं बनती।

पहाड़ी शैली में ये सुंदर चित्र हैं जिनका श्रेय तत्कालीन चित्रकार भगवान् को जाता है।

काव्य में मधु नाम के वजीर के लड़के तथा मालती नाम की राजकुमारी के प्रणय की गाथा है। प्रणय-प्रसंगों के अलावा युद्ध, नीति कथा आदि भी इसमें समेकित है। काव्यकार ने इसे प्रदुमन की लीला माना है :

"काम प्रबन्ध प्रकास पुनि मधुमालती विलास
प्रद्युमन की लीला यहै कहत चतुरभुजदास।"

2. रसिकप्रिया, रसमंजरी आदि

यह दूसरी महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपि संग्रहकर्ता को श्री चन्द्रशेखर से प्राप्त हुई है। इसमें रसिकप्रिया, रसमंजरी, वैद्यमनोत्सव, काल ज्ञान, सन्निपात कालिका आदि संग्र-हीत हैं। यह उस काल में प्रचलित विभिन्न विधाओं—काव्य, वैदक आदि को एक जगह संग्रह करने की परंपरा का प्रतीक है।

रसिकप्रिया को 'श्री महाराजकुमार इन्द्रजीत रचित' लिखा गया है जो सम्भवतः इसके लिपिकार रहे होंगे। रसिकप्रिया के मूल कवि केशवदास हैं। इसका रचना काल सम्वत् 1648 है जिसका स्पष्ट उल्लेख पाण्डुलिपि में हुआ है :

"सम्वत् सोरा सौ बरस बीते अरतालीस
कातिक शुदि तिथि सप्तमी बार वरनी रजनीस।
अति रति मति गति एक करी विविध विवेक विलास
रसिक नीको रसिक प्रिया करनी केशवदास।"

काव्य में केशवदास के नाम का जिक्र भी मूल रसिकप्रिया की भांति बार-बार आता है।

रसमंजरी के वर्णनकर्ता का नाम मान कवि राज आता है :

"पंडित मन मधुप ह्वै रस गहिवे के काज
वरने को रस मंजरी मान कवि राज।"

प्रचलित काव्यों की प्रतिलिपियों में प्रत्येक काव्य के साथ प्रतिलिपिकार ने अपना नाम जोड़ा है।

इस बृहत् पाण्डुलिपि में वैद्यमनोत्सव, काल ज्ञान, सन्निपात कालिका आदि भी संग्रहीत हैं।

3. रामायण, महाभारत

यह इनके पास उपलब्ध पाण्डुलिपियों में सबसे बृहताकार है। चौंका देने वाले भारी व लम्बे आकार के कारण यह दोनों हाथों में खुले रूप से कठिनाई से उठाई जाती है। यह दो फुट लम्बी, चौदह इंच चौड़ी, चार इंच मोटी पाण्डुलिपि है। इसका वजन करीब आठ किलो है।

इसमें टांकरी में रामायण और महाभारत लिखा हुआ है। भाषा कांगड़ी है।

4. रामायण

यह बही के रूप में रोल की तरह पाण्डुलिपि है जिसमें टांकरी लिपि में, कांगड़ी बोली में रामायण अंकित है। यह जीर्ण-शीर्ण है व उतनी आकर्षक भी नहीं है।

5. रामायण : उत्तर काण्ड

रामायण के उत्तर काण्ड की पाण्डुलिपि टांकरी लिपि, कांगड़ी बोली में है। इसमें प्रश्नावली भी है।

6. गुरु ग्रन्थ साहब

आधी फटी, आधी धुएं से काली यह पाण्डुलिपि गुरु ग्रन्थ साहब की है, जो टांकरी लिपि में है।

7. कोकशास्त्र

टांकरी लिपि में, पंजाबी से प्रभावित कांगड़ी में है।

8. कृष्णलीला, रासलीला

इसमें टांकरी में गीत (राग) लिखे गए हैं जो राम व कृष्ण से सम्बन्धित हैं। ये राग, जैसे गौरी, भैरवी आदि हैं जो ब्रज व अवधि में हैं। लिपि टांकरी ही है। इसे देई खीमी द्वारा लिखा गया है। पाण्डुलिपि में उल्लेख है : "देई खीमी अपणे हथ्थे लिखि।"

इन रागों में 'मकड़ाहर' राजधानी व जगतसिंह के राज्य का उल्लेख आता है :

"मकड़ाहर जोध्यापुरी मानों बृज की रीत
जगतसिंघ महाराज हैं श्री राघव से प्रीत।"

देई खीमी राजकुमारी बताई जाती है।

9. धर्म संवाद

धर्म संवाद उस युग में कोई प्रचलित नीति है जो अन्य पाण्डुलिपियों में भी मिलती है। प्रस्तुत पाण्डुलिपि में युधिष्ठिर-धर्मराज संवाद हैं जिन्हें रचनाकार ने अश्व-मेध पर्व का माना है।

इसका आरम्भ इस प्रकार होता है : "द्वापर युगे विषे इक समे श्री राजा जनमे-

जय विमुख सा बैठा होया श्री वैशम्पायन की पुछदा होया जे राजगुरू जी धर्मराजा चंडाले दा रूप धारी करी अपणे पुत्र युधिष्ठिर दे द्वार विषे स्वर्ग ते किहा करी आया।"

पाण्डुलिपि के अन्त में महाभारत व अश्वमेध पर्व का उल्लेख यूं हुआ है —"इति श्री महाभारते शत सहस्र संहिताया अश्वमेधे धर्म युधिष्ठिर संवाद: धर्म संवाद संपूर्णम्।"

10. तन्त्र, मन्त्र, ज्योतिष की पोथियां, पट्टे आदि

इनके पास कुछ तन्त्र-मन्त्र की पोथियां भी हैं, जिनमें विचित्र प्रकार के तन्त्र-मन्त्र दिए गए हैं। कुछ ज्योतिष से सम्बन्धित पतरे हैं तथा कुछ राजाओं द्वारा दिए गए पट्टे। कुछ सिक्के भी इनके पास हैं जिनमें महत्त्वपूर्ण शाहजहां के समय के हैं।

इनसे कुछ पट्टे वर्ष 1981 के दौरान भाषा-संस्कृति विभाग हि० प्र० द्वारा खरीदे गए। इन पट्टों में कुछ श्री चन्द्रशेखर जी के थे। 1980 के दौरान हिमाचल संग्रहालय द्वारा सचित्र पुस्तक 'मधुमालती' की खरीद की पेशकश इन्हें की गई और पहली बार ही क्रय कमेटी द्वारा इसका मूल्य पांच हजार आंका गया। इसे इन्होंने संग्रहालय को इस कीमत में नहीं दिया।

श्री चन्द्रशेखर, ढालपुर निवासी, जो वयोवृद्ध साहित्यकार हैं, के पास कुछेक पाण्डुलिपियां हैं। श्री खूबराम के पास रसिकप्रिया, रसमंजरी आदि वाली पाण्डुलिपि इन्हीं की है। इसके अलावा इनके पास भीतरी सिराज से प्राप्त कुछ तन्त्र-मन्त्र की पोथियां हैं जिनमें तरह-तरह के जंतर-मंतर अंकित हुए हैं। इन तान्त्रिक पोथियों में कुलान्त पीठ व चौहार पीठ का उल्लेख आता है। एक इनके पास शांगरी राजमहल से उतारा हुआ इतिहास है जिसमें राजा बहादुरसिंह से लेकर राजा ज्ञानसिंह तक का उल्लेख है। यह इतिहास देवनागरी किन्तु कांगड़ी में है। श्री चन्द्रशेखर शांगरी राजकुल के राजपुरोहित थे।

श्री इन्द्रदेव शास्त्री, जो राजकीय मिडिल स्कूल, दयार में अध्यापक हैं, के पास दो गीता की सचित्र पोथियां हैं। ये संस्कृत में हैं। छोटे आकार की इन पाण्डुलिपियों में सुंदर चित्र भी दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त इनके पास पांच सिक्के हैं जिनमें दो चांदी के, दो पीतल के तथा एक तांबे का है। सिक्कों पर 1141, 1740 तथा 1862 सम्वत् या सन् ई० अंकित है।

तन्त्र की पोथियों तथा आनी से उतारे इतिहास के अलावा श्री चन्द्रशेखर जी के पास एकाधिक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियां हैं, जिनमें से प्रमुख निम्न हैं :

1. कुलान्त पीठ

कुलान्त पीठ की यह पाण्डुलिपि इन्होंने आनी से उतारी हुई है। यह पाण्डुलिपि मणीकर्ण के पुजारियों की पाण्डुलिपि से कुछ भिन्नता लिए हुए है। मणीकर्ण माहात्म्य की पुस्तिका में दिए गए दो अध्यायों में भी असमानता है। इसमें भी संस्कृत की भाषागत् अशुद्धियां विद्यमान हैं। इसका ये आजकल अनुवाद कर रहे थे।

2. तुलसीकृत श्रीरामगीता

तुलसीकृत श्रीरामगीता की यह पाण्डुलिपि पुस्तक रूप में सुरक्षित है। इसे लिखने या लिपिबद्ध करने की तिथि पाण्डुलिपि में सम्वत् 1849 दी हुई है। लिपिकार का नाम नहीं दिया गया है। यह ब्रज, अवधी व देवनागरी लिपि में है।

3. तुलसीकृत बालकाण्ड

खुले वरकों के रूप में यह बालकाण्ड देवनागरी में है। लिपिबद्ध करने की तिथि सम्वत् 1838 दी गई है। लिपिकार का नाम नहीं दिया है।

4. गीता

छोटे आकार की संस्कृत गीता है। पुस्तिका ठीक उसी आकार-प्रकार की है, जो श्री इन्द्रदेव शास्त्री के पास उपलब्ध है। किन्तु यह सचित्र नहीं है।

5. मन्त्र महोदधि

इसमें देवताओं के मन्त्र दिए हैं। ये कुछ खुले पृष्ठों के रूप में है।

6. मन्त्र देव प्रकाशिका

यह भी मन्त्रों की पाण्डुलिपि है। खुले पृष्ठ हैं किन्तु पुस्तकाकार है। लिपिबद्ध करने की तिथि सम्वत् 1854 दी गई है। लिपिकार का नाम इसमें भी नहीं है।

7. कुछ खुले पृष्ठ

इन पृष्ठों में आयुर्वेद के संबंध में लिखा गया है।

8. पद्म पुराण

यह पद्म पुराण के उत्तर खण्ड का 'माघ माहात्म्य' नाम से अंश है। इसमें वशिष्ठ-दलीप संवाद दिया गया है। यह भी खुले पृष्ठों के रूप में है।

9. धर्म संवाद

श्री खूबराम के पास उपलब्ध धर्म संवाद की भांति है।

10. वायु पुराण

वायु पुराण का एक अंश 'केदार माहात्म्य' नाम से खुले पृष्ठों के रूप में है।

11. वाल्मीकि रामायण

यह भी खुले पृष्ठों के रूप में है।

12. पद्म पुराण

पद्म पुराण का यह अंश सम्वत् 1835 में लिपिबद्ध हुआ।

उक्त पाण्डलिपियों में एक ही विषय पर एकाधिक प्रतिलिपियां मिलती हैं। इनमें

विभिन्न लिपिकारों के कारण भाषागत अंतर भी पाया जाता है। उदाहरणतः 'कुलांत पीठ' की प्रति कुल्लू में कई लोगों के पास थी। मणीकर्ण में ही इसकी दो या तीन प्रतियां थीं : मणीकर्ण में इस पाण्डुलिपि से दो बार उद्धरण प्रकाशित भी हुए। एक तो मणीकर्ण मंदिर द्वारा 48 पृष्ठीय 'मणीकर्ण की यात्रा और माहात्म्य' नाम से प्रकाशित पुस्तिका में अन्य लेखों के अलावा 'मणीकर्ण माहात्म्य' नाम से दो अध्याय लिए गए। दूसरी पुस्तिका का प्रकाशन मणीकर्ण गुरुद्वारा के बाबा संत नारायण हरि ने 'श्री हरिहर घाट' नाम से करवाया। इस पुस्तिका में पंजाबी भाषा किन्तु देवनागरी लिपि में गुरुग्रंथ साहब के अंश के अलावा वही दो अध्याय दिए गए हैं। इस छब्बीस पृष्ठीय पुस्तिका में पहली से कम श्लोक दिए गए हैं।

प्रतिलिपि, जो श्री चन्द्रशेखरजी के पास है, इन्होंने आनी राजमहल से सम्वत् 2010 में उतारी है। वहां उपलब्ध मूल प्रति में इसे लिपिबद्ध करने का समय सम्वत् 1913 लिखा हुआ है। इसमें भूतनाथ क्षेत्र वर्णन, शबरी माहात्म्य, मणीकर्ण माहात्म्य आदि के सात अध्याय हैं। इसे लिपिकार ने ब्रह्माण्ड पुराण का एक अंश माना है।

इन समस्त पाण्डुलिपियों की विशेषता यह है कि ये सभी एक ही राजा प्रीतम-सिंह (1767-1806) के समय की हैं। श्री खूबराम के पास उपलब्ध 'मधुमालती' की प्रति भी सम्वत् 1854 की है। उक्त सभी पाण्डुलिपियां इसी समय की हैं—यथा सम्वत् 1835, 1838, 1849, 1854। ऐसा लगता है कि राजा प्रीतमसिंह के समय में साहित्य-कला को प्रोत्साहन मिला। मौलिक रचना न सही, प्रतिलिपियां उतारने की ओर रुझान ही राजा की इस ओर प्रवृत्ति का द्योतक है। पाण्डुलिपियों में उपलब्ध चित्र भी निश्चित रूप से इसी समय बने होंगे। कुल्लू-कलम का उदय भी इस काल में स्वाभाविक है क्योंकि राजा प्रीतमसिंह कांगड़ा के राजा संसारचंद का समकालीन था। कांगड़ा में राजा संसारचंद द्वारा कांगड़ा-कलम के उदय का प्रभाव इस ओर भी पड़ा। जिस प्रकार राजा संसारचंद कांगड़ा में प्रतापी राजा हुआ, उसी प्रकार प्रीतमसिंह ने भी कुल्लू में एक लम्बे समय, उनतालीस वर्ष तक राज्य किया और इस ओर रुचि दिखाई। 'मधुमालती' में राजा व तत्कालीन मन्त्री के नाम का स्पष्ट उल्लेख है।

वैदिक सुरा

'धर्मयुग' के 14 दिसम्बर, 1980 अंक में श्री भरतरक्षक के 'क्या वैदिक सोमलता और सोमरस का रहस्य खुल गया!' तथा कृष्णचन्द्र सगर के 'कैसे तैयार किया जाता है सोमरस!' लेखों में सोमलता तथा उसे कूटने के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली ओखलियों की चर्चा हुई। इस पर धर्मयुग में 'सम्पादक के नाम पत्र' लिखा, जो प्रकाशित भी हुआ। इस पत्र में मुख्य मुद्दा था—क्या सोमलता केवल एक ही लता थी या सोमरस बनाने के लिए बहुत-सी जड़ी-बूटियों को प्रयोग में लाया जाता था; तथा कुल्लू में तैयार सोमरस व पर्वत-शृंगों पर उगनेवाली सोमलताएं उस वैदिक पद्धति का प्रतीक तो नहीं! उच्च शृंगों से लाई लताओं तथा सुर तैयार करने के समय विभिन्न प्रक्रियाओं को करीब से देख पाने का मौका नहीं मिल पाया, अतः उस समय विस्तृत लेख नहीं लिखा जा सका।

शृंगे शिशनो अर्षति—ऋग्वेद का उल्लेख है। सोमलता पर्वत-शृंगों पर पाई जाती थी। कुल्लू में तैयार मादक पेय 'सुर' के लिए भी जड़ियां ऊंचे पर्वत शिखरों से लाई जाती हैं।

ऋग्वेद ने सोम का अनेकों बार गायन किया है। ऋग्वेद के नवें मण्डल में सोम का भरपूर उल्लेख आता है। वनस्पतियों के राजा, औषधियों के सम्राट, सोम का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में भी मिलता है।

सोमरस को बनाने की विधि, जो हमारे इन धर्मशास्त्रों में वर्णित है, ठीक उसी प्रणाली से कुल्लू में 'सुर' तैयार की जाती है। प्राचीन समय में इसे फलक नाम के पात्र में रखा जाता था। काटकर मूसलों से कूटा जाता था। कूटने और साथ में पानी मिलाने की प्रक्रिया में मन्त्रोच्चारण भी किया जाता था। कूटा हुआ सोम आघवनीय नाम के मिट्टी के पात्र में रखा जाता था। पात्र में पानी डाल इसका रस निचोड़ लेते थे। इसे अब छानकर अन्य पात्र में रखा जाता।

कुल्लू में प्रचलित इस मादक पेय को तैयार करने की भी यही वैदिक रीति है।

इस पवित्र पेय को सुर कहा जाता है। यह सुर चम्बा की ओर गद्दी लोगों द्वारा भी घर-घर निकाली जाती है और विशेष समारोहों में सामूहिक रूप से पी जाती है। कुल्लू में इसे पवित्र पेय माना जाता है जिसका देवता को प्रसाद लगता है, यद्यपि कुछ देवताओं में इसका चलन नहीं है। किन्तु जिन देवताओं के यहां यह मान्य है, वहां इसके

पात्र को देवता के पास रखा जाता है। देवता के प्रांगण में, भण्डार में ही इसे तैयार किया जाता है। देवता को चढ़ाने के बाद ही इसे लोगों में वितरित किया जाता है। देवता के उत्सवों में देवता के कर्मचारी इसे विधिवत् तैयार करते हैं और प्रसाद के रूप में बांटते हैं। इन उत्सवों में यह घरों में भी तैयार की जाती है और सामूहिक रूप से घर के सदस्यों व अतिथियों को पंक्ति में बिठा वितरित की जाती है। पुरुष व महिलाएं; दोनों समान रूप से इसका सेवन करते हैं। एक देवता के उत्सव पर पहाड़ की चोटी पर बसा एक गांव पूरा का पूरा सुर की गंध से महका हुआ था। सुर गंधा इस गांव में हर आंगन में लोग दाल-भात की तरह पंक्ति में बैठ सुरापान कर रहे थे। यहां कुछ वैसा ही दृश्य उपस्थित था जैसा पौराणिक ग्रंथों के चित्रों में सुर-असुरों को सुरापान करते हुए दिखाया जाता है।

'सुर' अन्य प्रकार की देसी शराब या 'लुगड़ी' के विपरीत एकमात्र पवित्र पेय है जो देवता को चढ़ता है। 'लुगड़ी' एक आम और अधिक प्रचलित पेय है जो सुर से निम्न कोटि का समझा जाता है।

यह पेय देवता के कारज के समय, जांच (मेला) के समय तथा ब्याह के अवसर पर तैयार किया जाता है।

इसे बनाने के लिए कई जड़ी-बूटियों को प्रयोग में लाया जाता है, जो ऊंचे जोतों, शिखरों पर पाई जाती हैं। ऐसा कहा जाता है कि ऊंचे पर्वतों पर इन जड़ी-बूटियों वाले स्थानों में कोई सुकुमार बालक या नारी नंगे पांव चले तो वहीं मदहोश हो होश खो बैठते हैं। ऐसे भी ऊंचे जोतों को पहली बार लांघनेवाला इन जड़ियों के खुमार से नशे में लड़खड़ा जाता है या उसके सिर में चक्कर आ जाता है।

वैसे भी इन जड़ी-बूटियों के बारे में पुराने समय से अनेकों दंत कथाएं प्रचलित हैं। यथा; ये रात को चमकती हैं, नाना प्रकार के रूप धारण करती हैं। एक औषधि किस्म की जड़ी को बंदूक से मारने लगे तो निशाने के आगे गाय दिखने लगी या नारी दिखने लगी आदि। कुल्लू के पार थरकू गांव में एक बार एक मैदान को समतल करती बार लोगों को ऐसी जड़ी मिली, जो उनके अनुसार रात को चमकती थी। मैं भी उसकी जड़ें घर लाया किन्तु कई बार रात के अंधेरे में देखने पर वह चमकती हुई नजर न आई।

ऊंचाइयों से, कठिनाई से लाई जानेवाली इन जड़ियों में से कुछ, जो सुर बनाने में प्रयुक्त होती हैं, इस प्रकार हैं—ओसटली, निम्ब्रली, चटकारी, करारी, गुड़ल, शकोरी, घुमण, टकोरी, गिद्धामूसल, उम्बलीडोही, शौरी, बूढ़ी रा लोगड़, मटोषण, टुम्बलमुंही, माहुरा, मटौशल, शाउंडी, ठाठीमंग, डोरीगाह आदि। इनमें माहुरा और मटौशल दो जड़ियां प्रमुख हैं। शेष में जितनी उपलब्ध हों, उतनी से ही काम चला लिया जाता है। मटौशल नाम की जड़ी को वैसे ही डाला जाता है जैसे सब्जी में नमक डाला जाता है। इसे डालते समय मन्त्र का प्रयोग भी किया जाता है।

अब इन समस्त जड़ियों की (वस्तुतः ये उक्त सूची से अधिक हैं) पहचान

करनेवाले कुछेक बुजुर्ग ही शेष हैं। अब प्रायः ये समस्त जड़ियां लाई भी नहीं जातीं। जोत से इन्हें लाने व सोम तैयार करने का कार्य देवताओं के यहां प्रायः बीस भादों को किया जाता है। बीस भादों को ऊंचे जोतों के जलाशयों जैसे सैला सौर, रोहतांगः, भृगु आदि में स्नान का पर्व भी होता है। इसी दिन ये जड़ियां लाई जाती हैं।

इन जड़ी-बूटियों की जड़ें, पत्ते आदि को लकड़ी पर बारीक काटा जाता है। काटने के बाद इन्हें ओखली में कूटा जाता है। इन ओखलियों का प्रयोग विशेष रूप से इसी के लिए नहीं होता बल्कि धान आदि कूटने के लिए भी प्रयोग में लाई जाती हैं। अब इसमें जौ का आटा मिलाया जाता है। कई बार इसमें तरम्होड़ी (काटने वाली मक्खी : भिड़) भी डाली जाती है।

अब इस लुगदी की रोटी तैयार कर सुखाई जाती है। एक देवता की फागली में मैंने पुजारी के घर गोल मक्की की रोटी के आकार की कई रोटियां देखीं जो इस पद्धति से तैयार की गई थीं। इसे 'ढेली' भी कहा जाता है।

इस रोटी के टुकड़े-टुकड़े कर कोटरे के आटे में पानी मिलाकर डाले जाते हैं ताकि लेटी-सी बन जाए। इसे अब एक पात्र में डाला जाता है जिसे 'सुरेढ़ी' कहते हैं। गर्म स्थान में इस पात्र को रखकर सुर तैयार हो जाती है। इसमें ऊपर-ऊपर की सुर बढ़िया समझी जाती है।

सुर तैयार करते समय देवता के कर्मचारी भूखे रहते हैं। जड़ियां लाने के समय भी भूखे पेट रहना होता है।

सुर के प्रादुर्भाव के विषय में एक वृद्ध ने कथा सुनाई कि एक चिड़िया पुल के नीचे बैठी थी। एक आदमी ने चिड़िया से पूछा कि यहां क्यों बैठी है ! चिड़िया ने रौब से कहा कि वह इस पुल को थामे है। यदि वह यहां से हट जाए तो पुल गिर जाए। असल में वह सुर में डाली जानेवाली जड़ियां खाए हुए थी।

यह कथा ऋग्वेद की इस उक्ति से मिलती है—

"हन्ताह पृथिवीमियां नि दधानिह वे हवा। कुवित् सोमस्यापामिति।"

—धरती को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख देने की बात उस चिड़िया की ही भांति है।

सोमरस को स्वास्थ्यवर्धक, स्फूर्तिदायक औषधि बताया गया है।

सोमलता को लेकर भारत व विदेशों में अनुसंधान हुआ है, किन्तु अभी तक यह सिद्ध नहीं हो पाया कि अमुक लता ही सोमलता है।

वास्तव में यह सोमलता एक न थी बल्कि सोमरस अनेकों जड़ी-बूटियों से बनता था। ये जड़ी-बूटियां स्वास्थ्यवर्धक औषधि तो हैं ही, मादकता देने से आनन्ददायक भी हो जाती हैं। स्नायविक दुर्बलता को हरने वाली इन जड़ियों से शरीर चैतन्य और मन निडर बनता है।

कुछ भारतीय विशेषज्ञों ने एपिड्रा नाम का जिम्नोस्पर्म माना है। इस जिम्नो-

स्पर्म की जातियां हिमालय में पाई जाती हैं। यह एक औषधि के रूप में भी प्रयुक्त होती है। इसी तरह कुछ वनस्पतियों को सोमराजा, सोमिदा, सोम्बू आदि कहा जाता है।

कुछ विद्वानों ने इसे सारकोस्टेमा एसिडम नाम का पौधा माना है। यह एक बिना पत्तियों वाला पौधा होता है।

प्रायः इसे बिना फूल और पत्तों के माना जाता है। सम्भवतः इसी कारण से इसकी पहचान कर पाना कठिन है। पर्वतों पर इस प्रकार के पौधों की पहचान किसी जानकार को ही होती है। ऐसी जड़ियों का सेवन करने से वृद्ध साधुओं के जवां हो जाने की दंत कथाएं प्रचलित हुई हैं। प्रमुखतः सोम को हिमालय से लाया जाने वाला ही माना गया है जो नमी और गीले पर्वतीय प्रदेशों की उपज है। यह सम्भव है कि तरह-तरह के सोमरस बनाये जाने के लिए मैदानी जड़ियां भी प्रयोग में लाई जाती हों।

यदि यह सुर कुल्लू में चली रहती है और इसमें प्रयुक्त जड़ियों को पहचानने वाले व्यक्ति भी रहते हैं तो शोधकर्ता इन जड़ियों की खोज इस दिशा में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं।

जिला कुल्लू के ध्वस्त गढ़

किंवदन्ती है कि कुल्लू के वर्तमान राजवंश की नींव मायापुरी के निर्वासित राजकुमार विहंगमणीपाल ने रखी। यह घटना लगभग प्रथम शताब्दी की रही होगी। हारकोट ने तत्कालीन राजा दलीपसिंह को 91वां राजा गिनाया है (हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ कुल्लू, लाहौल एण्ड स्पिति : 1870)। इस गणना के अनुसार यदि एक राजा का औसत शासन-काल पच्चीस वर्ष भी माना जाये तो 2,275 वर्ष बनते हैं। इस राजवंश के प्रतापी राजा जगतसिंह (1637-1662) तथा मानसिंह (1672-1717) हुए जिनके साथ कुल्लू दशहरा का उद्‌भव व विकास जुड़ा हुआ है।

लोकास्था है कि विहंगमणीपाल को प्रजा द्वारा राजा घोषित करने से पूर्व कुल्लू में स्पिति के निरंकुश राणाओं का दमनकारी शासन था। छोटे-छोटे राजा आपस में लड़ा-भिड़ा करते थे। इस संदर्भ में एक कहानी है कि एक राजा को स्त्रियों के दूध पीने व उसकी खीर बनाकर खाने की आदत पड़ गई जिसके लिए उसने प्रजा के सभी दूध पीते बच्चे मरवाने आरम्भ कर दिये। ऐसी दंतकथाएं पुराने राजाओं के सम्बन्ध में बहुत सुनने को मिलती हैं किन्तु कुल्लू में इसकी प्रतिक्रियास्वरूप प्रजा के विद्रोह से नये राजवंश की स्थापना हुई। छोटे-छोटे राणाओं की आपसी लड़ाई बाद तक भी चली रही। राजा जगतसिंह ने अपने राज्य के विस्तार के लिए कई दूसरे छोटे-मोटे राणाओं से युद्ध किये। इन्हीं आन्तरिक मुठभेड़ों के कारण छोटे-छोटे गढ़ बने।

आन्तरिक लड़ाइयों के अलावा कुल्लू के सीमावर्ती राज्यों—मण्डी, भंगहाल, कांगड़ा, रामपुर, कुमारसैन, लाहौल-स्पिति से भी युद्ध होते रहे। अतः सीमाओं पर भी गढ़ों का निर्माण हुआ। लाहौल-स्पिति की ओर तो ऊंचा जोत था, जहां गढ़ बनने की सम्भावना न थी। कुल्लू में मण्डी की ओर, कांगड़ा जाने वाले मार्ग पर बजौरा से लेकर व्यास के बाएं किनारे पहाड़ियों पर मनाली तक गढ़ बने हैं।

इनमें बजौरा गढ़, हाथीपुर गढ़, तारापुर गढ़, मान गढ़, शोझा गढ़, सारी गढ़, नल्हाच गढ़, रायसन गढ़, मंगल गढ़, बड़ा गढ़, बिजीपुर गढ़ आदि हैं। ये सभी गढ़ खण्डहर हो गये हैं। अधिकांश में मामूली दीवार और पत्थरों के मलबे के अलावा कोई अवशेष नहीं बचा है। यद्यपि इनसे जुड़ी कथाएं अब भी बखानी जाती हैं।

ये सभी गढ़ छोटे गढ़ थे। कई जगह तो केवल मोर्चाबन्दी के लिए ही मामूली निर्माण हुआ था। वैसे भी कुल्लू जैसे शिखर और घाटियों के देश में लड़ाई पत्थरों से

लड़ी जाती रही है। अब भी कुछ गढ़ों में गोल-गोल पत्थर पाये जाते हैं, जो व्यास नदी के किनारे से ऊपर ढोये गये हैं। इन पत्थरों का संग्रह कर लिया जाता था गढ़ों में। जब दुश्मन नीचे से ऊपर चढ़ने की कोशिश करता तो इन पत्थरों से स्वागत किया जाता जो नीचे लुढ़कती बार गोली से अधिक काम देते। इस तरह की लड़ाई के चर्चे यहां किये जाते हैं। भेखली धार से ढालपुर में पत्थर बरसाने, बाहरी सिराज में ऐसे ही पत्थरों की मार से सिखों को परास्त करने के किस्से बखाने जाते हैं।

सभी दुर्गों में उल्लेखनीय बजौरा किला है जिसका उल्लेख हारकोट तथा जे० कैलवर्ट ने किया है। जे० कैलवर्ट ने इस किले की बुलंदी की प्रशंसा की है, यद्यपि उस समय (1873) भी इसकी कुछ दीवारें खण्डहर के रूप में शेष थीं। अपनी पुस्तक में उन्होंने इसका चित्र भी दिया है। कैलवर्ट के अनुसार यह किला रणजीतसिंह द्वारा लूटा गया। इसकी दीवारों व कलात्मक पत्थरों से इसकी भव्यता का अंदाजा लगाकर इसे मुक्त कण्ठ से सराहा गया।

कुल्लू का एकमात्र किला, जो अब तक सलामत है, नग्गर किला है। वास्तव में यह किला कम और राजाओं के आवास के रूप में अधिक प्रयुक्त हुआ है। अंग्रेजों के समय असिस्टेंट कमिश्नर भी यहीं रहा करता था। इस समय यह हिमाचल पर्यटन विकास निगम का आवासगृह है।इसे देखने से भी लगता है इसकी बनावट में किलेबंदी वाली कोई विशेष बात नहीं है। यह राजाओं के आवास व राजदरबार के रूप में अधिक प्रयुक्त हुआ, मोर्चाबन्दी के लिए कम। किले के बाहर लगे सूचना पट्ट के अनुसार इसे राजा सिद्धसिंह (1500-1546)ने बनवाया।

नीली व्यास का देश

कुछ ऐतिहासिक सन्दर्भ

अनेकों दिव्य भूमियों, सुन्दर घाटियों, हिमाच्छादित शिखरों से परिपूर्ण यह देश अपने में अद्वितीय है। इसकी रमणीय धरा, नीली व्यास की गहन धारा एक कशिश रखती है जो मनुष्य को चाहे-अनचाहे ही खींच लेती है।

वैदिक नदियों—शतद्रु व विपाशा से घिरी, रोहतांग शिखर से मण्डी की पहाड़ियों तक फैली यह धरा, नीली व्यास की धारा की है। 13,325 फुट ऊंचे व्यास-कुण्ड से निकलकर व्यास इसके वक्षस्थल को ठण्डा करती है। इसकी एक सीमा शिमला के रामपुर बुशैहर को छूती है। दूसरी ओर किन्नर है। तीसरी ओर लाहौल-स्पिति तो चौथी ओर मण्डी। बीच में हैं शिखर, घाटियां, वन, प्रान्तर, सर, निर्झर व अनोखी दिव्य भूमियां। भारत का यह स्विट्जरलैण्ड आज तक कली समान अछूता रहा है और यही इसकी विशेषता है।

हारकोट ने जिस रंगीले, सपनीले कुल्लू का वर्णन किया है, जे० कैलवर्ट ने उसे कश्मीर से भी बढ़कर मनोहारी बताया है। अपने सौन्दर्य व शान्त-स्निग्ध वातावरण के कारण यह प्राचीनकाल से ऋषियों, मुनियों, साधकों, खोजियों के आकर्षण का केन्द्र रहा।

हारकोट ने अपनी पुस्तक 'हिमालय डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ कुल्लू, लाहौल एण्ड स्पिति' में सरिताओं, निर्झरों, झीलों से युक्त शहदीले कुल्लू का वर्णन किया है। जे० कैलवर्ट ने इसे 'ब्लू-व्यास' का देश कहा है। उन्होंने कुल्लू के सौन्दर्य, यहां के पुरातत्त्व व चांदी की खानों का वर्णन किया है। 'द सिलवर कण्ट्री एण्ड वजीरी रूपी ऑफ द वजीरज' के पहले अध्याय में वे लिखते हैं : "कुल्लू वैली इज नोटेड फार मच ब्यूटिफुल सीनरी विच ईवन कैश्मीर केननोट इक्वल, एण्ड फार वेराइटी इट सरटेनली बियरज द पाम।'

वैसे तो कुल्लू के चारों ओर ही पर्वत हैं किन्तु इसके ऊपर ताज के समान विशाल हिमालय है जो इसे अपनी बर्फीली दीवार से लाहौल घाटी से जुदा करता है। रोहतांग जोत के अलावा इस हिमालय के उत्तर की ओर एक शिखर 20,356 फुट ऊंचा है जबकि पूर्व की ओर प्रसिद्ध देउ-टिब्बा 20,417 फुट। दूसरी ओर जगतसुख के प्रीणी से ऊपर हामटा जोत 14,700 फुट है जहां से पुराने समय में लोग स्पिति जाया करते

थे। कुल्लू के भीतरी सिराज—बंजार को बाहरी सिराज—आनी से जोड़ने वाला जलोड़ी जोत 10,500 फुट ऊंचा है। दूसरी ओर बजौरा होकर मण्डी जाने वाला बजौरा जोत 7,000 हजार फुट है। मण्डी, जोगेन्द्रनगर से जोड़ने वाला दूसरा मार्ग भूभू जोत से होकर था, जो 10,000 फुट है। ये जोत पुराने समय के पैदल मार्ग थे। अब भी इन जोतों से कुछ लोग, गद्दी, गूजर आदि आते हैं। निचले इलाकों से मण्डी होकर आने वाले कुल्लू में बजौरा होकर ही निकलते थे। बजौरा इस ओर से आने वालों का मुख्य केन्द्र था। कांगड़ा, जोगेन्द्रनगर से आने वाले भूभू जोत से आते थे। लाहौल घाटी में प्रवेश का मार्ग रोहतांग जोत ही था। स्पिति जाने का मार्ग हामटा जोत से हुआ करता था। भीतरी सिराज से बाहरी सिराज, आनी को जलोड़ी जोत का मार्ग था जबकि निरमण्ड से जोड़ने वाला अन्य जोत बश्लोई जोत (11,000) फुट था।

व्यास कुण्ड के अलावा सोलंग नाला 20,366 फुट की ऊंचाई के स्रोत से निकलता है। सरवरी नदी का स्रोत सारी जोत 15,108 फुट पर है। पार्वती नदी 20,515 फुट की ऊंचाई से निकलती है।

मलाणा जाने के लिए चंद्रखणी से होकर मलाणा जोत 12,000 फुट की ऊंचाई पर है। नग्गर की समुद्रतल से ऊंचाई 5,780 फुट है। जगतसुख 5,935 फुट, मढ़ी 10,419 फुट है। बिजली महादेव का शिखर 8,076 फुट तथा मणीकर्ण 5,587 फुट पर है। कुल्लू का सुलतानपुर 4,092 फुट की ऊंचाई पर अवस्थित है।

कुल्लू के प्राचीन नामों में 'कुल्लूत' का उल्लेख पुराणों व परवर्ती संस्कृत साहित्य में आता है। कुल्लूत, कौलूत आदि नामों का उल्लेख इतिहास पुराणों में आता है। पौराणिक सन्दर्भ में इसकी कहीं विस्तृत रूप से चर्चा नहीं हुई है, अतः स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता। महाभारत में जिस रूप से त्रिगर्त का वर्णन हुआ है, वह स्थान कुल्लूत को प्राप्त नहीं हुआ। त्रिगर्त, कश्मीर प्रागज्योतिषपुर आदि के समान कुल्लूत पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

यहां से एक द्विलिपि में सिक्का भी प्राप्त हुआ है जिसमें : 'राजनः कोलूतस्य वीरायासस्य' लिखा पढ़ा गया है। यह ब्राह्मणी व खरोष्ठी लिपि में अंकित है।

हिमालय के पांच खण्ड माने गये हैं—नेपाल, कूर्मांचल, केदार, जालंधर व कश्मीर। जालंधर पीठ के अन्तर्गत कुलान्त पीठ आता है।

जालंधर पीठ के सम्बन्ध में पालमपुर (कांगड़ा) में मेरे एक रिश्तेदार के पास एक हस्तलिखित पाण्डुलिपि थी। इस पाण्डुलिपि में समस्त जालन्धर पीठ का वृत्तांत था। वे स्वयं ज्योतिषी थे, अतः उनके ज्योतिष आदि के ग्रन्थों के साथ इसकी प्रति भी पड़ी थी। इस प्रति में संस्कृत की भाषा सम्बन्धी बहुत अशुद्धियां थीं। इसे उनसे एक व्यक्ति शोधार्थ ले गया। ऐसी ही पाण्डुलिपि जिसमें संस्कृत की भाषायी अशुद्धियां बहुत थीं, मणीकर्ण के पुजारियों के पास भी थी। इसे भी इनसे एक व्यक्ति ले गया। कहा जाता है ऐसी एक-दो पाण्डुलिपियां अन्य व्यक्तियों के पास भी थीं, जो अब उपलब्ध नहीं हैं।

इस मणीकर्ण-माहात्म्य नाम की पाण्डुलिपि में दुर्गा स्तुति, तीर्थस्थान माहात्म्य

आदि के साथ कुलान्त पीठ का वर्णन है। कुलान्त पीठ के साथ चौहार पीठ का उल्लेख भी आता है, जो कुल्लू के साथ है।

कुलान्त का अर्थ, 'कुल का अन्त' नहीं, बल्कि यह एक पीठ का नाम है, हिमालय के एक खण्ड का नाम है। जालन्धर के समान यहां एक कुलान्त नाम के राक्षस की लोककथा भी है, जो बिजली महादेव से लेकर जिया व कैलाश तक फैला हुआ था। इस राक्षस के नाम से भी कुलान्त नाम माना जाता है।

कुलान्त पीठ से सम्बन्धित इस 'मणीकर्ण माहात्म्य' का आरम्भ ब्रह्माजी के निम्न उवाच से आरम्भ होता है :

'अथातः संप्रवक्ष्यामि कुलांत पीठ मुत्तमम्
तत्पीठे चे स्मास्मृत्य मुनयो सिद्धिमागतः' (1)

—ब्रह्माजी बोले, अब मैं कुलान्त पीठ, जो सबसे उत्तम है, उसे कहूंगा, जिसका स्मरण मात्र करने से ही मुनि सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं।

इस माहात्म्य में भगवान् शंकर का पार्वती सहित भील रूप धारण करने तथा शंकर-अर्जुन युद्ध का वर्णन है। व्यास, वशिष्ठ की तपस्या का जिक्र है। इन्द्रकील, हेमुकूट (हामटा) पर्वत का वर्णन है।

कुल्लू में व्यास के बाएं किनारे जगतसुख व नग्गर के बीच शुरू में शबरी देवी का मन्दिर आज भी है जो शंकर-पार्वती के भील रूप धारण करने की याद दिलाता है। इसी से ऊपर अर्जुन-गुफा है।

मणीकर्ण माहात्म्य, शिव-पार्वती की मणी खोने सम्बन्धी कथा, व्यास-पार्वती संगम के साथ-साथ इस पाण्डुलिपि में कुलान्त पीठ की अवस्थिति के विषय में भी लिखा हुआ है :

'शृणुश्वावहितो पुत्र कुलांत पीठ मुत्तमम्
जालन्धरस्य वैशाने हेम कूटस्य दक्षि (2)
दश योजन विस्तीरण योजनाय तमन्तरम्
उत्तरे व्यास तीर्थ च दक्षिणे बन्धवो गिरिः' (3)

—हे पुत्र ! सावधान होकर सुनो ! वह उत्तम कुलान्त पीठ जालन्धर पीठ के ईशान्य में और हेमकूट के दक्षिण में स्थित है। वह पीठ दस योजन लम्बा और एक योजन चौड़ा है। इसके उत्तर में व्यास का पुण्य तीर्थ है और दक्षिण में बन्धन पर्वत है।

त्रिपुरा सुन्दरी कवच में इन पीठों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :

'चंड कील गिरो रक्षां कौमारी सहितश्च मे
करोतु भैरवो नित्यं पूजकानां तु सिद्धये।
वैष्णवी सहितः कुलांते पीठ राजके
नैऋत्यां सर्वदा पातु भोग कामार्थ सिद्धये।
उन्मत्त भैरवो देवो वाराही सहितो मम
चौहाराख्ये महापीठे पश्चिमे पातु सर्वदा।

कपाले भैरवां देव: इंद्राणी सहित: प्रभु
जालंधरे महापीठे पातु मां च समीरणे।'

यद्यपि यह पाण्डुलिपि संस्कृत साहित्य जितनी पुरानी नहीं हो सकती तथापि इससे कुलान्त के माहात्म्य, इसके तीर्थस्थलों की पुराने समय में प्रसिद्धि तथा जालन्धर पीठ के समान इसकी महत्ता पर प्रकाश पड़ता है।

हेनत्सांग ने 'कई-लू-तो' को जालन्धर से 700 ली अर्थात् 117 मील उत्तर-पूर्व में बताया जो 3000 ली अर्थात् 500 मील की परिधि में फैला हुआ था।

कुल्लू में पालवंश का शासन कब स्थापित हुआ, यह अज्ञात है। लोककथा के अनुसार पालवंश का पहला शासक विहंगमणीपाल था, जिसे देवी हिडिम्बा के प्रसाद से कुल्लू का राज्य मिला। उसने कुल्लू को स्पिति के अत्याचारी शासकों के चंगुल से छुड़ाया। उसे जगतसुख, जयवार में राजा घोषित किया गया और यही इन राजाओं की प्रथम राजधानी थी।

हारकोट ने विहंगमणीपाल से लेकर अंतिम राजा जीतसिंह तक अठासी शासक गिनाये हैं। जीतसिंह को 1840 में सिक्खों ने हरा दिया और कुल्लू अपने साम्राज्य में मिला लिया। जीतसिंह के बाद आज तक छ: राजा हुए। हारकोट के समय दलीपसिंह राजा था, जो अवयस्क था। वर्तमान राजा महेन्द्रसिंह हैं। इनके सुपुत्र टिक्का महेश्वर सिंह विधायक हैं। ये जनता शासन में हिमाचलप्रदेश के मुख्य संसदीय सचिव भी रहे।

सिक्खों की अधीनता के बाद ठाकुरसिंह को महाराजा शेरसिंह की ओर से राजा की उपाधि दी गई तथा उसे रूपी वजीरी का जागीरदार बनाया। 1864 में कुल्लू अंग्रेजों के अधीन हो गया और इसे डिप्टी कमिश्नर, कांगड़ा के साथ संलग्न किया गया। कुल्लू का पहला असिस्टेंट कमिश्नर कैप्टन हे था।

कुल्लू के राजाओं की राजधानियां तीन प्रमुख स्थानों में रहीं। सर्वप्रथम, विहंगमणीपाल से उत्तम पाल तक राजधानी जगतसुख या नस्त में थी। इसके बाद इसे नग्गर स्थानान्तरित किया गया। नग्गर के बाद जगतसिंह के समय सुलतानपुर को राजधानी बनाया गया।

जगतसुख में यद्यपि राजमहलों के कोई अवशेष नहीं मिलते तथापि वहां राजधानी होने के प्रमाणस्वरूप उत्कृष्ट मन्दिर शेष हैं। शिव मन्दिर के साथ संध्या गायत्री मन्दिर में लगे कुछ कलात्मक पत्थर व पाषाण मूर्तियां वहां पर अन्य उत्कृष्ट मन्दिर होने का प्रमाण हैं।

हारकोट व जे० कैलवर्ट, दोनों ने ही नग्गर को 'मकड़सा' पुकारा है। कुछ लोगों के अनुसार मकड़सा आधुनिक मकड़ाह्र है। राजा जगतसिंह भी मणीकर्ण से (रघुनाथजी के आगमन की लोककथा में) राजधानी मकड़ाह्र में ही लौटा था। नग्गर या मकड़से की यह राजधानी वर्तमान नग्गर से ऊपर ठाह्वा में थी, जहां इस समय मुरली मनोहर का मन्दिर है। ऐसा कहा जाता है कि नग्गर के किले में भी इसी राजधानी व शहर के खण्डहर, पत्थर आदि उपयोग में लाए गये।

जगतसिंह के समय राजधानी को सुलतानपुर लाया गया, जब लग्ग घाटी के राजा जोगचंद को हराने के बाद उसके भाई सुलतानचन्द को, जो सुलतानपुर में रहता था, जगतसिंह ने सुलतानपुर में धराशायी किया। कहा जाता है, वह बिना सिर के भी लड़ता रहा। अभी भी उसकी समाधि सुलतानपुर में बनी हुई है।

कुछ समय के लिए पालवंश के राजाओं ने जिया में भी महल बनवाने आरम्भ किए जो बाद में स्थगित कर दिए। जिया में भी विशाल मन्दिर के अवशेष मिलते हैं।

मोटे तौर पर विहंगमणीपाल से लेकर अब तक 94 राजा हुए। यदि एक राजा ने बीस वर्ष राज्य किया हो तो आज से 1880 वर्ष पूर्व विहंगमणी पाल हुआ। पुरातन लोककथा में विहंग को परशुराम का भाई बताया जाता है, जो ऐतिहासिक सन्दर्भ में भ्रान्तिपूर्ण है। 1840 में जीतसिंह को सिक्खों द्वारा हटाने की घटना प्रामाणिक है। इससे पूर्व जगतसिंह का शासनकाल (1640 से 1680 के बीच 1637-1662 मान्य) भी लगभग प्रामाणिक ही है। हारकोट ने शाहजहां, दारा, औरंगजेब द्वारा जगतसिंह को लिखे पत्र राव दलीपसिंह के चचेरे भाई हीरासिंह के पास देखे। इनमें जगतसिंह को कुल्लू का जागीरदार सम्बोधित किया है।

जगतसिंह से पहले कुल्लू के राजाओं का राज बहुत छोटा था। यह मात्र व्यास के बाएं किनारे जगतसुख से ऊपर की ओर ही सीमित था। ऐसा कहा जाता है बहादुरसिंह ने वजीरी रूपी व सिराज को अपने राज्य में मिलाया।

शांगरी राजमहल से श्री चन्द्रशेखर द्वारा उतारी गई हस्तलिखित पाण्डुलिपि में उल्लेख है :

"भादरसिंह से पहले जो राजे हुए उनका राज परौल वजीरी पर ही रहा। रूपी की वजीरी में ठाकुरों का राज था, जो सुकेत के राजा को नजराना दिया करते थे।"

इस पाण्डुलिपि में राजा बहादुरसिंह द्वारा हरकंठी, कोठी कनाउर, चुंग कोठी, कोट कंठी, वोसर, भलाह्ल कोठी, सेंसर के जीतने की चर्चा है। इन सबको जीतने के बाद बहादुरसिंह ने 'मकड़ाह्र' में अपने बेहंड़े बनवाये। यह 'मकड़ाह्र' नग्गर के दूसरे नाम 'मकड़सा' से भिन्न स्थान है जो हुरला की ओर है। सम्भवतः रूपी वजीरी की ओर के इलाकों पर ठीक प्रकार से नजर रखने के लिए मकड़ाह्र में राजधानी बनाई गई हो। दूसरा नाम 'मकड़सा', जिसे हारकोट, कैलवर्ट ने नग्गर का ही दूसरा नाम लिखा है, पूरे राज्य का नाम हो सकता है क्योंकि पुरातन कथा के अनुसार भोट व मकड़ा; दो भाइयों में से मकड़ा के राजा बनने पर उसके राज्य का नाम 'मकड़सा' पड़ा था।

पाण्डुलिपि के अनुसार बहादुर के बाद कल्याण ने कोई सीमा नहीं बढ़ाई और थोड़े दिन राज्य किया किन्तु राजा जगतसिंह इस दिशा में एक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ।

पाण्डुलिपि में बहादुरसिंह के बाद कल्याणसिंह का उल्लेख है और उसके बाद जगतसिंह का किन्तु हारकोट ने बहादुरसिंह के बाद और जगतसिंह तक चार और राजा गिनाए हैं—प्रतापसिंह, पर्बसिंह, पृथीसिंह और कल्याणसिंह। एक अन्य

टांकरी के पत्र में कल्याणसिंह के स्थान पर मानसिंह राजा का नाम है जिसने केवल दो वर्ष राज्य किया। हारकोट ने बहादुरसिंह का समय 1400 दिया है जो उचित नहीं हो सकता। बहादुरसिंह का समय इतिहास की पाण्डुलिपियों में 1546 से 1569 मिलता है जो उचित प्रतीत होता है।

राजा जगतसिंह ने कुल्लू की सीमाओं को व्यास के दाएं किनारे तक बढ़ाया। *लग्ग के राजा तथा उसके भाई सुलतानचन्द को जीता। लग्ग के राजा जोगचन्द पर* जगतसिंह ने मण्डी के राजा से मिलकर हमला किया, अतः मण्डी की ओर का इलाका मण्डी के राजा को मिला और कुल्लू की ओर का जगतसिंह को। जगतसिंह को गढ़ गपालपुर, कोठी पल्हरचा, गढ़ सकारी, तलोकपुर, सतेपुर, जलोड़ी, मदनपुरा, हाथीपुरा, सरमपुरा, तारापुर, पसटारी मिले। सुलतानचन्द को हराने के बाद मंगलगढ़, रायसन, हुरगगढ़ आदि मिले। इसी राजा के समय में अवध से रघुनाथ के आगमन की घटना घटी।

सिराज की ओर सुकेत के राजा के पास जो नारायण गढ़, श्रीगढ़ आदि इलाके थे, वे भी राजा जगतसिंह ने अपने कब्जे में किए। इस समय की निम्न उक्ति भी प्रसिद्ध है जिसका लोग अलग-अलग अर्थ निकालते हैं :

'आठ पीढ़ी मकड़सा नउ पीढ़ी पंडोरी
उसके पीछे जो राज खाए रघुनाथजी साथ रखे डोरी।'

जगतसिंह के बाद पाण्डुलिपि के अनुसार राजा विधिसिंह हुआ जिसने चम्बा के राजवंश में विवाह किया। चम्बा के राजा ने कन्यादान में लाहुल दिया। इस राजा ने रामपुर बुशैहर का कुछ इलाका अपने कब्जे में किया।

एक टांकरी पत्र, जिसमें कल्याणसिंह के स्थान पर राजा मानसिंह (प्रथम) का जिक्र है, में जगतसिंह और मानसिंह (द्वितीय) के बीच राजा हरिसिंह का उल्लेख है, जिसने कुल एक वर्ष राज्य किया। इस टांकरी पत्र में सिद्धसिंह से लेकर निम्न तिथियां हैं, जो प्रामाणिक प्रतीत होती हैं :

सिद्धसिंह	: 1506-1546	(सिद्धसिंह हारकोट की सूची में चौहत्तरवां राजा है)
बहादुरसिंह	: 1546-1569	
प्रतापसिंह	: 1569-1584	
पर्बसिंह	; 1584-1618	
पृथीसिंह	: 1618-1637	
मानसिंह	: 1635-1637	
जगतसिंह	: 1637-1662	
हरिसिंह	: 1662-1663	
विधिसिंह	: 1663-1672	
मानसिंह	: 1672-1717	

राजसिंह : 1717-1735
जैसिंह : 1735-1742
टेढ़ीसिंह : 1742-1767
प्रीतमसिंह : 1767-1806
विक्रमसिंह : 1806-1816
जीतसिंह : 1816-1842

(अंतिम स्वतन्त्र शासक)

ठाकुरसिंह : 1842-1852
ज्ञानसिंह : 1852-1870
दलीपसिंह : 1870-1892
मेघसिंह : 1892-1921
भगवंतसिंह : 1921-1960
महेन्द्रसिंह : वर्तमान राजा

उक्त टांकरी पत्र से उधृत सूची में दिए गए राजाओं में हारकोट की सूची में कल्याणसिंह की जगह मानसिंह है। हारकोट की सूची में जगतसिंह के बाद विधिसिंह राजा आता है, इसमें हरिसिंह है। यह सूची अधिक प्रमाणित प्रतीत होती है और कुल्लू के एक अन्य इतिहास, जो हरदयाल द्वारा लिखित बताया जाता है, से मेल खाती है।

राजा मानसिंह के समय तक कुल्लू राज्य की सीमाओं में बुशैहर का भाग, मण्डी का पर्याप्त भाग, सुकेत व मंगाल का कुछ हिस्सा आ गया था। इसमें समस्त कुल्लू, वजीरी रूपी, सिराज, लाहौल-स्पिति शामिल थे।

पाण्डुलिपि में उल्लेख है: मंगाल के राजा पृथीपाल की एक बहन मण्डी के राजा को ब्याही थी, दूसरी मानसिंह को। पृथीपाल को मण्डी के राजा ने मण्डी में मार दिया। पृथीपाल की माता ने अपने दामाद मानसिंह से सहायता मांगी। फलत: मानसिंह ने मण्डी पर चढ़ाई की और मण्डी का बाहरला गाहर, भीतरला गाहर, रतन-गिरि आदि अपने कब्जे में कर लिए। इसके बाद राजा ने पुन: मण्डी पर हमला किया और तारापुर में धावा बोला। मण्डी की फौजें भाग गई और राजा ने गुम्मा व द्रंग तक लूटपाट की और वापस आ गया।

मानसिंह के बाद राजसिंह और उसके बाद जयसिंह के मण्डी के विरुद्ध सहायता के लिए लाहौर जाने का उल्लेख हारकोट ने किया है। किन्तु पाण्डुलिपि में लिखा है कि एक वजीर ने राजा को पदच्युत करने के लिए दुह्म (विद्रोह) करवा दिया। इस बात से राजा दुखी हुआ और लाहौर चला गया। उसके साथ पांच सौ नौकर तथा अन्य लोग भी थे। एक कंजरी भी राजा के साथ गई। राजा के चले जाने पर पीछे से मण्डी के राजा ने अपने इलाकों पर कब्जा कर लिया। राजा जयसिंह बहुत सुंदर था। लाहौर में बादशाह उसे देख बहुत प्रसन्न हुआ। राज्य पुन: लेने के लिए फौज दी। लाहौर में राजा को बादशाह (या सूबेदार) की पुत्री ने देखा और उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की। बेगम द्वारा बादशाह तक बात पहुंचने पर बादशाह ने राजा के पास गुप्त संदेश

भेजा। राजा इस बात को सुन बहुत घबराया। लोकास्था है कि राजा को वहां कैद कर लिया गया। उसके साथ मुश्किल से चालीस-पचास आदमी थे। किन्तु राजा वहां से भागने में सफल हो गया। जयसिंह का चचेरा भाई कांगड़ा के जयसिंघपुर में अपने मामा के यहां रहता था। उसे जयसिंह ने लिख भेजा कि वही अब कुल्लू की गद्दी संभाले, जयसिंह तीर्थयात्रा पर जा रहा है। राजा ने कुल्लू को भी संदेश भेज दिया कि अब राजा टेढ़ी-सिंह बनेगा और वह स्वयं अवध में श्रीराम की सेवा में रहेगा। अत: राजा टेढ़ीसिंह बना। यद्यपि यह कथा पर्याप्त लम्बी है और अलग-अलग तरह से बखानी जाती है, तथापि ऐतिहासिक सन्दर्भ में राजा के लाहौर जाने पर प्रकाश डालती है।

टेढ़ीसिंह के समय तथा प्रीतमसिंह के आने तक कुल्लू का राज्य आंतरिक कलहों के कारण छिन्न-भिन्न हो चुका था। वस्तुत: राजा जयसिंह के लाहौर जाने और वापस न आने के दौरान आसपास के राज्यों ने अपने इलाके पुन: छीन लिए। इसे अंतिम धक्का तब लगा जब प्रीतमसिंह के बाद विक्रमसिंह के समय सन् 1812 में सिक्खों ने हमला कर दिया। पाण्डुलिपि में प्रीतमसिंह द्वारा गोरखों के विरुद्ध कंपनी बहादुर की ओर से लड़ने का जिक्र आता है।

अंतिम स्वतन्त्र शासक जीतसिंह को सिक्खों ने 1840 में हटा दिया। जीत-सिंह के बाद ठाकुरसिंह को महाराजा शेरसिंह ने राजा की उपाधि दी तथा वज़ीरी रूपी का जागीरदार बनाया। ज्ञानसिंह को कंपनी बहादुर ने राव का खिताब दिया। हार-कोट के समय दलीपसिंह पंडित नत्थूराम के पास शिक्षा ग्रहण कर रहा था।

इन्हीं पालवंश के वंशजों ने बाद में शांगरी की ठकुराई अलग से संभाल ली। यह अलगाव प्रीतमसिंह के समय या उसके बाद हुआ। अंग्रेजों ने इसे शांगरी तक ही सीमित कर दिया।

हारकोट ने इन राजाओं के समय की कुछेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है—ग्यारहवें राजा बसुपाल के समय राजधानी जगतसुख से नगर लाई गई। पृष्ठ संख्या 36 में उन्होंने यह भी स्वीकारा है कि उत्तम पाल तक, जो बसुपाल के बाद हुआ, राजधानी जगतसुख ही थी। सत्ताइसवें राजा ब्रह्मपाल के कोई उत्तराधिकारी न था। अत: चम्बा, लद्दाख, सुकेत, बुशैहर, कांगड़ा तथा मंगाल के राजाओं ने मिलकर गणेश पाल को उत्तराधिकारी घोषित किया। इकतीसवें राजा श्री दत्तपाल के समय चम्बा के साथ युद्ध हुआ और श्रीदत्त चम्बा के राजा उमरसिंह के हाथों मारा गया। बत्तीसवां राजा उमरपाल भी चम्बा के राजा के हाथों धराशायी हुआ। उसका केवल एक पुत्र शीतलपाल इस युद्ध में जीवित रहा। चौंतीसवें राजा ने बुशैहर की सहायता से चम्बा से छुटकारा पाया।

चालीसवें राजा नारदपाल के समय पुन: चम्बा के साथ युद्ध हुआ जो बारह वर्ष तक चला रहा। अन्त में चम्बा के सैनिकों को एक दावत में धोखे से मार डाला गया।

पचासवां राजा सचेन्द्रपाल दिल्ली के राजा के पास चीन के हमले के दौरान

सहायता के लिए गया। दिल्ली का राजा स्वयं सेना सहित आया और कुल्लू के रास्ते होकर गैमूर, बिलोचिस्तान तथा मानतलाई तक का राज्य जीता।

चौहत्तरवें राजा सिद्धपाल से कुल्लू के राजाओं का उदय आरम्भ हो गया। सिद्धपाल ने सिद्धसिंह की उपाधि धारण की क्योंकि उसने गाय पर हमला किए हुए एक सिंह से लड़ाई की थी। इसके बाद बहादुरसिंह से कुल्लू के राज्य का विस्तार आरम्भ हुआ।

राज्य की सम्पन्नता को उस युग की वास्तुकला से भी मापा जाता है। इस दिशा में सबसे पुरातन वास्तुकला निरमण्ड के मन्दिरों में मिलती है। विशेषकर परशुराम मन्दिर में उपलब्ध ताम्रपत्र, बुद्ध की प्रतिमाएं गुप्तकालीन हैं। एक रानी मां की आवक्ष प्रतिमा है जिसमें 'सम्वत् सात आषाढ़ दस' खुदा है। यद्यपि तत्कालीन 'सेन' शासकों का अब कोई अवशेष नहीं मिलता तथापि यह सम्भाव्य है कि ये शासक गुप्त शासकों के करद थे। कुल्लू के अन्य मन्दिरों में प्राचीन मन्दिर जगतसुख तथा बजौरा के मन्दिर हैं। यह कला सातवीं-आठवीं शताब्दी की बताई जाती है। निश्चित रूप से उस समय कुल्लू का राज्य सम्पन्न रहा होगा। इसके बाद के मन्दिर सोलहवीं सदी के हैं। शिखर शैली के पाषाण मन्दिरों के अलावा काष्ठ मन्दिरों का शिल्प बहादुरसिंह के समय आरम्भ हुआ। इस श्रेणी में हिडिम्बा, त्रिपुरा सुन्दरी, पाराशर (कमांद) तथा दयार के मन्दिरों को गिनाया जा सकता है।

हारकोट ने कुल्लू का क्षेत्रफल 6,025 वर्गमील बताया है तथा जनसंख्या 98,798। उस समय असिस्टेंट कमिश्नर के इलाके में कुल्लू, ऊपरी व्यास घाटी, वजीरी रूपी तथा लाहौल-स्पिति के क्षेत्र थे। यह क्षेत्र लद्दाख, चीन, शिमला, मण्डी-सुकेत व बड़ा भंगाल की सीमाओं तक फैला हुआ था। उस समय ऊपरी व्यास घाटी में सत्रह कोठियां, वजीरी रूपी में छः, सिराज में पचीस, लाहौल में चौदह तथा स्पिति में पांच कोठियां थीं। प्रत्येक कोठी में एक नेगी था। केवल सिराज की पचीस कोठियों में छब्बीस नेगी थे तथा स्पिति में केवल एक नोनो था। यही शासक थे। स्पिति में सारी जनसंख्या बेगार के तौर पर कार्य करती थी। कुल जनसंख्या में ऊपरी व्यास घाटी की जनसंख्या 33,410, वजीरी रूपी की जनसंख्या 12,496 तथा सिराज की 44,355 थी। कुल्लू के कुल 1,826 वर्गमील क्षेत्रफल की जनसंख्या 90,261 थी।

जे० कैलवर्ट ने कुल्लू तथा वजीरी रूपी की जनसंख्या 46,000 बताई है, जिसमें 3000 वजीरी रूपी तथा 1,110 सुलतानपुर की थी। हारकोट ने सुलतानपुर में 422 घर बताए हैं जिनकी जनसंख्या 1,110 थी। हारकोट व कैलवर्ट ने उक्त जनसंख्या 1868 की जनगणना के अनुसार बताई है।

प्रथम नवम्बर, 1966 में विशाल हिमाचल के गठन से पूर्व कुल्लू (जिला लाहौल-स्पिति समेत) जिला कांगड़ा का एक अंग था जो पंजाब में था।

वर्तमान जिला कुल्लू, जो हिमाचल में है, की तीन तहसीलें हैं—कुल्लू, बंजार तथा निरमण्ड। जिला का मुख्यालय कुल्लू में है तथा उपमण्डल आनी का मुख्यालय

आनी में। जिला में पांच विकास खण्ड हैं—कुल्लू, नग्गर, बंजार, आनी तथा निरमण्ड।

मुख्यालय के कार्यालय ढालपुर, कुल्लू में हैं। कैलवर्ट ने जहां 1873 में तहसील के सामने रेस्ट हाउस से बीस मिनट तक बाघों की लड़ाई देखी थी, वहां अब चहल-पहल बनी रहती है। जहां उस समय शहर में बच्चों व कुत्तों की तलाश में बाघ घूमते रहते थे, पहाड़ में ऊपर तक आबादी हो गई है। बाघों का तो अब वैसे ही नामो-निशान मिट गया है। ऊंची-ऊंची चोटियों में भी, घने जंगलों में भी बाघों के दर्शन नहीं होते।

31-58-00" अक्षांश तथा 77-06-4" रेखांश पर स्थित वर्तमान जिला कुल्लू का क्षेत्रफल 5,503 वर्ग किलोमीटर है जो पूरे हिमाचलप्रदेश का 9.9 प्रतिशत है। 1981 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या 2,39,123 है जिसमें 1,24,545 पुरुष तथा 1,14,578 महिलाएं हैं। आबादी का प्रति कि०मी० घनत्व 43 है।

□□